ECO O IC ATA AS CO TAI E I EA LY U HIST TEXTS

(IN HINDI)

Thesis
submitted to the University of Allahabad
for the degree of
Doctor Of Philosophy
(Faculty of Arts)

By

Pratibha Pathak

Supervisor

Prof. G.C. Pande
Ex- Head of Department of Ancient History, Culture and Archaeology
University of Allahabad
Chairman, Indian Institute of Advanced Study, Shimla
and Allahabad Museum Society, Allahabad

Department of Ancient History, Culture And Archaeology
University of Allahabad (U.P.)
1999

विषय सूची

भूमिका

प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं समाज पर सामान्यतया अनेक ग्रन्थ लिखे गये है तथा आर्थिक इतिहास को लेकर भी कई ग्रन्थो का प्रणयन हुआ है तो भी प्राचीन बौद्ध साहित्य मे वर्णित आर्थिक जीवन पर केन्द्रित शोध कार्य की आपेक्षिक विरलता को देखते हुए शोध–विषय का चयन किया गया है। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य जो सामान्य जन--जीवन से जुड़ा हुआ है उसमें तत्कालीन आर्थिक जीवन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास पर प्रणीत नये ग्रन्थों में प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे की पुस्तक "फाउन्डेशन ऑव इंडियन कल्चर"[1] वाल्यूम प्रथम एवं द्वितीय उल्लेखनीय है। बुद्ध कालीन समाज के विषय में रतिलाल मेहता की "प्री बुद्धिस्ट इण्डिया",[2] टी डब्ल्यू राइस् डेविड्स की "बुद्धिस्ट इण्डिया" रिचर्ड फिक् की कृति दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज टाइम" मोहनलाल महतो की "जातक कालीन संस्कृति" उत्तम कृतियाँ है। प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास पर लिखित पुस्तकों में मोती चन्द्र की 'सार्थवाह', अतीन्द्रनाथ बोस की "सोशल एण्ड रुरल इकोनॉमि ऑफ नार्दन इण्डिया" वाल्यभ प्रथम एवं द्वितीय, डॅा० प्राणनाथ की "ए स्टडी इन द एकोनामिक कन्डीशन ऑव इंडिया", के०पी० रंगास्वामी अंयगर की "ऐस्पेक्ट्स ऑफ एशेंट इंडियन एकोनामिक थॉट" श्रीमती राइस डेविड्स का एतद्विषयक लेख "अर्ली इकोनामिक कन्डीशनस् इन नार्दन इण्डिया (J.R.A.S. 1901) एन०एस० सुब्बाराव की पुस्तक "एकोनामिक एण्ड पोलिटिकल कन्डीशन्स इन ऐनशियन्ट इंडिया", डॉ० प्रिया श्रीवास्तव की "प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म" आदि उल्लेखनीय है। इन विषयों पर अन्य

---

१. प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, फाउन्डेशन ऑफ इन्डियन कल्चर, दो वाल्यूम में, डायमैनसस् ऑफ ऐन्शियन्ट इान्डयन सोशल हिस्ट्री, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

२. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट, बम्बई एक्जामिनर प्रेस, १६३१

पुस्तकों का उल्लेख पुस्तक सूची में संगृहीत है। किन्तु इन पुस्तकों में प्राचीन बौद्ध सूत्रों में उपलब्ध आर्थिक तथ्यों का समग्र विवेचन नहीं किया गया है इसलिए इस शोध विषय का चयन किया गया है।

पालि त्रिपिटक के लिए उसके नालन्दा संस्करण का उपयोग किया गया है। जातकों के लिए भदन्त आनन्द कोसल्यायन का हिन्दी अनुवाद तथा कावेल के अंग्रेजी अनुवाद का उपयोग किया है।

इसके अतिरिक्त पालि त्रिपिटक के लिए 'पालि टेक्सस्सोसाइटी' के द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद एवं महोबोधि सोसाइटी, सारनाथ द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवादों का उपयोग किया गया है। 'बौद्ध भारती' के द्वारा प्रकाश्यमान पालि त्रिपिटक के सानुवाद मूल से युक्त खण्डों का भी उपयोग किया गया है। कुछ स्थलों पर इगतपुरी के प्रकाशित त्रिपिटक का भी उपयोग किया है। मूल बौद्ध साहित्य के अतिरिक्त अन्य सम्बद्ध साहित्य का भी उपयोग किया गया है जिसमें रामायण, महाभारत, सूत्र साहित्य, अर्थशास्त्र एवं यूनानी विवरण उल्लेखनीय है।

साहित्यिक साक्ष्य के अतिरिक्त एवं उसकी पुष्टि के लिए पुरातात्विक साक्ष्यों का भी उपयोग किया गया है। इसके लिए विभिन्न बौद्ध केन्द्रों के उत्खनन विवरणों का उपयोग किया है। जिनका उल्लेख यथा स्थान एवं पुस्तक सूची में दिया गया है।

शोध विषय के संदर्भ में सम्बन्धित भौगोलिक जानकारी के लिए डा० भरतसिंह उपाध्याय की ''बुद्धकालीन भारतीय भूगोल'' सर अलेक्जेंडर कर्निंघम द्वारा लिखित एवं जगदीश चन्द्र द्वारा अनूदित ''प्राचीन भारत का भूगोल'', प्रो० यू० एन० राय की ''प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन'', डा० विमलचरण लाहा की ''प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल'' का अध्ययन किया गया है।

पालि ग्रन्थों के तिथिक्रम की विवेचना हेतु प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे की ''स्टडीज इन द ओरिजन्स ऑफ बुद्धिज्म'' (इलाहाबाद, १९५७) एवं ''बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास''

विण्टरनिट्ज की "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन् लिटरेचर"[1] डॉ० भरत सिंह उपाध्याय की "पालि साहित्य का इतिहास"[2] डॉ० राहुल सांकृत्यायन का "पालि साहित्य का इतिहास"[3] एवं डॉ० विमल चरण लाहा की "हिस्ट्र ऑफ पालि लिटरेचर"[4] का अध्ययन किया गया है।

पालि साहित्य के विभिन्न शब्दों के समुचित अर्थज्ञान हेतु जिन कोषग्रन्थों का अध्ययन किया गया इनमें प्रमुख है जी० पी० मलालशेखर की दो भागों में प्रकाशित "डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स"[5] रीजडेविड्स महोदय की "पालि इग्लिश डिक्शनरी" एवं भदन्त आनन्द कौसल्यायन की "पालि हिन्दी कोश"।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में "प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य का तिथिक्रम एवं परिचय प्रस्तुत किया गया तथा शोध विषय की दृष्टि से उनके महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. यह पुस्तक लन्दन से १६०२ में प्रकाशित हुई थी। १६५० एवं १६७१ में मोतीलाल बनारसीदास ने इसे पुनर्मुद्रित किया।

२. डा० भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रथम, सन् १६७२।

३. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पालि साहित्य का इतिहास" हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ० प्र० लखनऊ १६६३

४. लन्दन, १६३३

५. जी० पी० मलालशेखर, ए डिक्शनरी ऑव पालि प्रौपर नेम्स--३, जिल्द

द्वितीय अध्याय "भौगोलिक परिचय" में प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध एवं बहुचर्चित भौगोलिक स्थलों का परिचय दिया गया है एवं विनयपिटक तथा सुत्तपिटक से उनके सम्बन्ध को दर्शाया गया है।

तृतीय अध्याय "कृषि" में कृषि एवं पशुपालन सम्बन्धी विषयों की विवेचना की गई है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है "उद्योग एवं व्यवसाय"। बुद्धयुगीन विकसित उद्योगों एवं जीवकोपार्जन के विभिन्न साधनों का विवरण इस अध्याय में प्रस्तुत है।

पाँचवा अध्याय "व्यापार एवं वाणिज्य" से सम्बंधित है। इसमें व्यापारिक व्यवस्था, विनिमय के साधन एवं आर्थिक संगठन की विवेचना प्रस्तुत की गई है।

अध्याय छ में खानपान, वस्त्राभूषण एवं मनोरंजन के प्रचलित साधनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय सात 'उपसंहार' के रूप में लिखा गया है जिसमें तत्कालीन आर्थिक जीवन की समीक्षा करते हुए शोध अध्ययन के माध्यम से प्राप्त प्रमुख तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है।

मैं प्रातः स्मरणीय परमपूज्य गुरुवर्य प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे की सदैव ऋणी हूं, जिन्होंने अपने विद्वतापूर्ण कार्यो में अत्यन्त व्यस्तता से परिपूर्ण दैनिकचर्या के मध्य मेरे शोध कार्य हेतु अपने निर्देशन की सहर्ष स्वीकृति दी। यह मेरा परमसौभाग्य है कि मैं गुरुवर के उदार स्नेह की सदैव भागिनी रही हूँ एवं जिनके पाण्डित्यपूर्ण सुस्पष्ट निर्देशन एवं प्रोत्साहन से यह शोध प्रबन्ध अपना यह रुप ग्रहण कर सका है। ऐसे मूर्धन्य गुरुश्रेष्ठ के मार्गप्रदर्शन से मुझे

गर्व एवं हर्ष का अनुभव हो रहा है। मैं अपने स्तुतत्य गुरुश्रेष्ठ के प्रति अपनी हार्दिक विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण कराने मे प्रोफेसर उदय नारायण राय, भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग की स्वभावगत सह्रदयता तथा उपकारी वृत्ति एवं उनका स्नेहिल आशीर्वाद द्वारा विभिन्न रुपों में मेरी जिस प्रकार सहायता हुई, उन्हें लेखनी एवं शब्दों के माध्यम से वर्णित करने में मैं अपने को अक्षम महसूस करती हूँ।

मैं विशेष आभारी हूँ डॉ० हरि नारायण दुबे, रीडर, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग की, जिन्होंने सम्पूर्ण शोधावधि में बडे ही स्नेहपूर्वक मेरा उत्साहवर्धन किया एवं अभिरूचि पूर्वक मेरी सहायता की।

डॉ० जय नारायण पाण्डे, रीडर प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, की शोधार्थियों पर विशेष कृपा रहती है। उन्होंने मेरा भी मार्गदर्शन कर मुझे बहुमूल्य सुझाव दिये, जिसके लिए मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

डॉ० देवी प्रसाद दुबे, प्रवक्ता प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग ने मुझे शोध प्रबन्ध विषयक अति उपयोगी सुझाव दिये तथा शोध–विषयक व्यवधानों का वैदुष्यपूर्ण ढंग से समय–समय पर निराकरण किया अतः उनके प्रति मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

प्रोफेसर विजय कुमार पाण्डेय, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, डॉ० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद एवं डॉ० ओम प्रकाश श्रीवास्तव, (अधिकारी पुरातत्व) ने शोध निमित्त मुझे जो महत्वपूर्ण सुझाव एवं बहुमूल्य सहयोग दिया उसके लिए मैं उनकी सदैव अभारी हूँ।

विभाग के वर्तमान अध्यक्ष प्रोफेसर विद्याधर मिश्र ने विभागाध्यक्ष के रूप में मुझे कृपापूर्वक समस्त विभागीय सुविधायें उपलब्ध करायी उतदर्थ में उनके प्रति अपना विशेष आभार व्यक्त करती हूँ। डॉ० ओम प्रकाश श्रीवास्तव, प्रवक्ता प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग ने अपना समय–समय पर जो सहयोग एवं सुझाव दिया उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। मैं प्रोफेसर सिद्धेश्वरी नारायण राय, प्रो० ब्रजनाथ सिंह यादव, प्रो० जसवन्त सिंह नेगी, प्रो० शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य, प्रो० रामकृष्ण द्विवेदी, डॉ० वनमाला मधोलकर, डॉ० अनामिका राय की अत्यन्त अत्यन्त अभारी हूँ जिनकी शुभकामनाऐं शोध कार्य के दौरान मेरा उत्साहवर्धन करती रही।

मै इलाहाबाद संग्रहालय समिति, इलाहाबाद के अधिकारी गण, निदेशक श्री उदयशंकर तिवारी, संग्रहपाल डॉ० शिवकुमार शर्मा, डॉ० सुनील सिन्हा एवं डॉ० दिनेश केसरवानी का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, जो मेरे सदैव शुभेच्छु रहे हैं एवं जिन्होंने शोध कार्य की पूर्णता हेतु अपना सतत् सहयोग प्रदान किया। मैं अपने अग्रज डॉ० राजेश कुमार मिश्रा के प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने समय–समय पर अपना यथेष्ट सहयोग दिया।

मैं अपने पति श्रीमान् विद्या रतन पाठक की चिर ऋणी हूँ जिन्होंने शोध हेतु मुझे निरन्तर प्रोत्साहन एवं अपना यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया एवं मेरे शोधकार्य के वें मुख्य प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

मैं अपना स्नेहिल धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ अपनी तीन वर्षीय नन्ही पुत्री कुमारी अपर्णा पाठक को, जो दो मास तक मुझसे दूर, फैजाबाद में मेरे वात्सल्य से वंचित रही एवं वहाँ धैर्यपूर्वक मेरे शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने की प्रतिक्षा करती रहीं।

ममतामयी परमपूज्य जननी श्रीमती गायत्री देवी एवं जनक श्री रामानन्द मिश्रा का तो सम्पूर्ण जीवन ही मेरे कल्याण के लिए सर्मपित रहा है। मेरी माँ एवं पिता ने मुझे अबोध बालिका मान मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वदा मुझ पर जो स्नेहवर्षा की है उसके लिए आभार व्यक्त करना लेखनी के बस की बात नही है।

अपने पितृवत् ससुर श्रीमान् केसरी प्रसाद पाठक एवं मातृवत् सास श्रीमती यन्त्रावती देवी के असीम स्नेह के कारण मैं सर्वथा चिन्तामुक्त होकर शोध–कार्य कर सकी हूँ एवं उनके पुण्य–प्रताप से ही मेरा यह शोध कार्य पूर्ण हो सका है। उनके प्रति मैं अपना हार्दिक एवं आत्मिक नमन अभिव्यक्त करती हूँ।

मेरे शोध प्रबन्ध के टंकण का कार्यभार राका प्रकाशन ने बड़ी कुशलता एवं एकाग्रता से सम्हाला एवं प्रत्येक स्तर पर अपनी दक्षता का परिचय दिया जिसके लिए मैं श्री राकेश तिवारी, श्री जितेन्द्र कुमार मिश्रा एवं श्री सुनील पाण्डेय के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

दिनांक ....

प्रतिभा

(प्रतिभा)

अध्याय-१

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य-तिथिक्रम एवं ग्रन्थ परिचय

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य-तिथिक्रम एवं ग्रन्थ परिचय

बुद्धत्व प्राप्ति से महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों एवं अन्य व्यक्तियों को यत्र–तत्र धर्मसम्बन्धी उपदेश दिये। अर्थात् ये उपदेश अनेक व्यक्तियों को अनेक स्थानों पर दिये गये। भगवान् बुद्ध के जीवन काल में उनके समस्त उपदेश मौखिक ही थे। इन उपदेशों को भगवान् बुद्ध के शिष्य अपने स्मृति में भलीभाँति सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे। इसके अनेक प्रमाण हमें प्रारम्भिक पालि साहित्य में मिलते हैं। विनयपिटक के चुल्लवग्ग में धर्म–धर (धर्म या सुत्त पिटक को धारण करने वाले), विनय–धर (विनयपिटक या विनय सम्बन्धी उपदेशों को धारण करने वाले), मातृका–धर (मातृकाओं–तात्त्विक उपदेश–सम्बन्धी अनुक्रमणियों, जिनसे बाद में अधिधम्म पिटक का विकास हुआ, को धारण करने वाले), पंडित चतुर एवं मेधावी भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है।[1] अंगुत्तरनिकाय के 'एतदग्गवग्ग' में भगवान् बुद्ध की शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में पारंगत भिक्षु–भिक्षुणियों एवं उपासक–उपासिकाओं की पूरी एक सूची मिलती है।[2] भगवान् बुद्ध ने प्रचलित मागधी भाषा में उपदेश दिया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे अपनी–अपनी बोलियों में उनके उपदेशों को स्मरण करें।[3]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग,१/२/७;

२. अंगुत्तर–निकाय, एतदग्गवग्ग;

३. डॉ० पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ६४;

भगवान् बुद्ध ने किसी भिक्षु को अपना उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया था। मगध के महामात्य वर्षकार वेणुवन कलन्दक निवाप में आयुष्मान आनन्द से प्रश्न करते हैं "भो आनन्द! क्या आप सबमे एक भिक्षु को भी उन गौतम ने (यह कह) स्थापित किया है– 'मेरे बाद यह तुम्हारा प्रतिशरण (आश्रयदाता) होगा, जिसका कि इस समय आप लोग अनुसरण करते है?''

"नहीं, ब्राह्मण! उन जाननेवाले, देखनेवाले भगवान् अर्हत् सम्यक– संबुद्ध ने एक भिक्षु को भी नही स्थापित किया– 'मेरे बाद यह तुम्हारा प्रतिशरण होगा, जिसका कि इस समय हम अनुसरण कर रहे हों।"

"– – – – – – भो आनन्द! इस प्रकार प्रतिशरण–रहित होने पर एकता (=सामग्री) का क्या हेतु है?"

"ब्राह्मण! हम प्रतिशरण–रहित नहीं है; ब्राह्मण! हम धर्म–प्रतिशरण (=धर्म है शरण जिनका) है।"[१] स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् 'धम्म' ही भिक्षुओं का सहारा था। शास्ता ने यह बात अपने जीवन काल में स्वयं भी स्पष्ट कर दी थी। वज्जि–जनपद के वेणु–ग्राम में भगवान् एक बार (परिनिर्वाण के कुछ समय ही पूर्व) बड़े अस्वस्थ हो गये। भारी मरणान्तक पीडा होने लगी ऐसी स्थिति में निरीह एवं मूढ़ हो जाने वाले आनन्द को भगवान् ने कहा– "आनन्द! मैंने न अन्दर न –बाहर करके धर्म उपदेश कर दिये। आनन्द[१] धर्मो में तथागत को (कोई) आचार्य मुष्टि (=रहस्य) नहीं है। – – – इसलिये आनन्द! आत्मदीप=आत्मशरण=अनन्यशरण, धर्मदीप=धर्मशरण=अनन्य–शरण होकर बिहरो।"[२]

---

१. मज्झिम–निकाय, गोपक–मोग्गलान–सुत्तन्त;

२. दीघ–निकाय २/३

यह स्पष्ट है कि प्रचलित प्रथा के विरुद्ध शाक्यमुनि ने अपने शिष्यों का सगठन शास्तृमूलक न करके शासनमूलक किया था।[1]

परन्तु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सप्ताह पश्चात ही भिक्षुओं में अनुशासनहीनता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगी। भगवान के देहान्त से दुखी, करुण विलाप करते भिक्षुओ से सुभद्र नामक बृद्ध प्रव्रजित यह कहते सुना गया–" मत आवुसो! मत शोक करो, मत रोओ। हम सुमुक्त हो गये। हम महाश्रमण से पीडित रहा करते थे– 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है।' अब हम जो चाहेंगे, सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे, सो नहीं करेंगे।"[2] ऐसी परिस्थिति में बुद्ध के वचनों के संग्रह एवं संगायन की आवश्यकता को बल मिला। आयुष्मान् महाकाश्यप ने निश्चय किया "अच्छा हो आवुसो! हम धर्म और विनय का संगान (=साथ पाठ) करें, सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है, अविनय प्रकट हो रहा है, विनय हटाया जा रहा है। अधर्मवादी वलवान् हो रहे है, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं।"[3] इसके लिए पॉच सौ भिक्षुओं का चयन किया गया एवं राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्म एवं विनय के संगायन का निश्चय हुआ।

---

१. डॉ० पाण्डे, गोविन्द चन्द्र– बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १३४

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ११/१/१;

दीघ निकाय, २/३;

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग,११/१/१;

राजगृह के वैभारपर्वत मे स्थित सप्तपर्णी गुफा में यह सभा आयोजित हुई। इस सभा की अध्यक्षता महाकाश्यप ने की एवं आनन्द ने भी प्रमुख रूप से भाग लिया। यह सभा इतिहास में 'प्रथम सगीति' के नाम से विख्यात हुई। इसमें पाँच सौ भिक्षुओं के भाग लेने के कारण इस संगीति को 'पंच शतिका' भी कहा जाता है।[1] विनयपिटक के चुल्लवग्ग, दीपवस, महावंस, बुद्धघोष कृत समन्तपासादिका (विनयपिटक की अर्थकथा) की निदान कथा, महाबोधिवंस, महावस्तु, तिब्बती दुल्व में थोड़ी--बहुत विभिन्नताओं के साथ, राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन मिलता है। धम्म (सुत्त) एवं विनय का संगायन किया गया।[2] स्पष्ट है इन सभी साक्ष्यों में धम्म (सुत्त) एवं विनय के संगायन की बात कही गयी है।

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् वैशाली के बालुकाराम में द्वितीय संगीति का आयोजन किया गया। वैशाली के भिक्षु विनय–सम्बन्धी कुछ नियमों के पालन में मनमानी करने लगे थे एवं विनय--विरुद्ध निम्न दस नियमों का पालन करने के लिए अन्य व्यक्तियों को भी प्रोत्साहित कर रहे थे।

१. श्रृंगि–लवण–कल्प विहित है।

(अर्थात् सींग में नमक रखकर पास रक्खा जा सकता है, कि जहाँ अलोना होगा, लेकर खायेंगे)

२. द्वयंगुल–कल्प विहित है।

(अर्थात् दोपहर को दो अंगुल छाया को बिताकर भी विकाल में भोजन करना विहित है)

---

१. विनयपिटक, महावग्ग,११/४/२;

२. उपाध्याय, डॉ० भरतसिंह; पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८६;

३. ग्रामान्तर–कल्प विहित है।

(अर्थात् भोजन कर चुकने पर, छक लेने पर गाँव के भीतर भोजन करने जा सकता है)।

४ आवास–कल्प विहित है।

(अर्थात एक सीमा के बहुत से आवासों म उपोसथ करना विहित है)

५. अनुमति–कल्प विहित है।

(अर्थात् एक वर्ग के संघ का विनय–कर्म करना, 'यह ख्याल करके, कि जो भिक्षु (पीछे) आयेंगे, उनको स्वीकृति दे देगे)

६. आचीर्ण–कल्प विहित है।

(अर्थात् यह मेरे उपाध्याय ने आचरण किया है, यह मेरे आचार्य ने आचरण किया है' ऐसा समझकर किसी बात का आचरण करना विहित है)

७ अमथित–कल्प विहित है।

(अर्थात् जो दूध दूध–पन को छोड चुका, दही पन को नहीं प्राप्त हुआ है, उसे भोजन कर चुकने पर, छक लेने पर, अधिक पीना विहित है)

८. जलोगी–पान विहित है।

(जो सुरा अभी चुवाई नहीं गई हैं, जो सुरापन को अभी प्राप्त नही हुई है, उसका पीना विहित है)

६. अदशक निषीदिन (बिना मगजी का आसन) विहित है?

१०. जातरूप–रजत (=सोना चाँदी) विहित है।[1]

इन दस बातों का समर्थन करने वाले प्राचीनक के (पूर्ववाले) या वैशाली के भिक्षु थे एवं इन बातो को न मानने वाले भिक्षु पावेयक (=पश्चिमवाले) कहे गये। इस विवाद के सुलझाने के लिए भिक्षुगण वैशाली मे एकत्रित हुए। भिक्षुओं के शोर–गुल में कोई हल न निकलता देख चार प्राचीन भिक्षुओं (आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान साढ, आयु मान् क्षुद्रशोभित (=खज्ज सोभित), आयुष्मान् वार्षभग्रामिक (=वासभगामिक)एवं चार पावेयक भिक्षुओं (आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत साणवासी, आयुष्मान् यश कांकडपुत्त, आयुष्मान् सुमन) की एक समिति बनायी गयी।[2] इस समिति ने विवादग्रस्त दस बातों को विनय विरुद्ध घोषित कर दिया।

तत्पश्चात् वैशाली के बालुकाराम में महास्थविर रेवत की अध्यक्षता में एक सभा आयोजित हुई इसमे भी, प्रथम संगीति के समान ही धम्म एवं विनय का संगायन एवं संकलन हुआ। यह सभा इतिहास में 'द्वितीय संगीति' के नाम से प्रसिद्ध है। इरा संगीति में सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया इसलिए यह संगीति, 'सप्तशातिका' कही जाती है।[3] इस संगीति का वर्णन भी प्रायः उन सब ग्रन्थों में मिलता है, जिनमें प्रथम संगीति का।[4]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १२/१/१,

२. वही १२/३/१;

३. वही १२/३/३;

४. डॉ० उपाध्याय, भरतसिंहः पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५;

वैशाली के भिक्षुओं की दस बातो के नियम विरुद्ध घोषित होने पर उन्होंने स्थविरवाद (अन्य भिक्षुओं) से पृथक् महासंघ बनाया और वे लोग महासांघिक कहलाने लगे। कालान्तर में स्थविरवाद एव महासाघिक से अन्य सम्पदायो की उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २२८ वर्ष बाद सम्राट अशोक के समय तक बौद्ध भिक्षु सघ अठारह निकायों में विभक्त हो गया। इनमें बारह स्थविरवाद परम्परा तथा छे महासंघिक परम्परा से सम्बद्ध थे। दीपवंस के अनुसार निकाय भेद क्रम इस प्रकार था।[1]

---
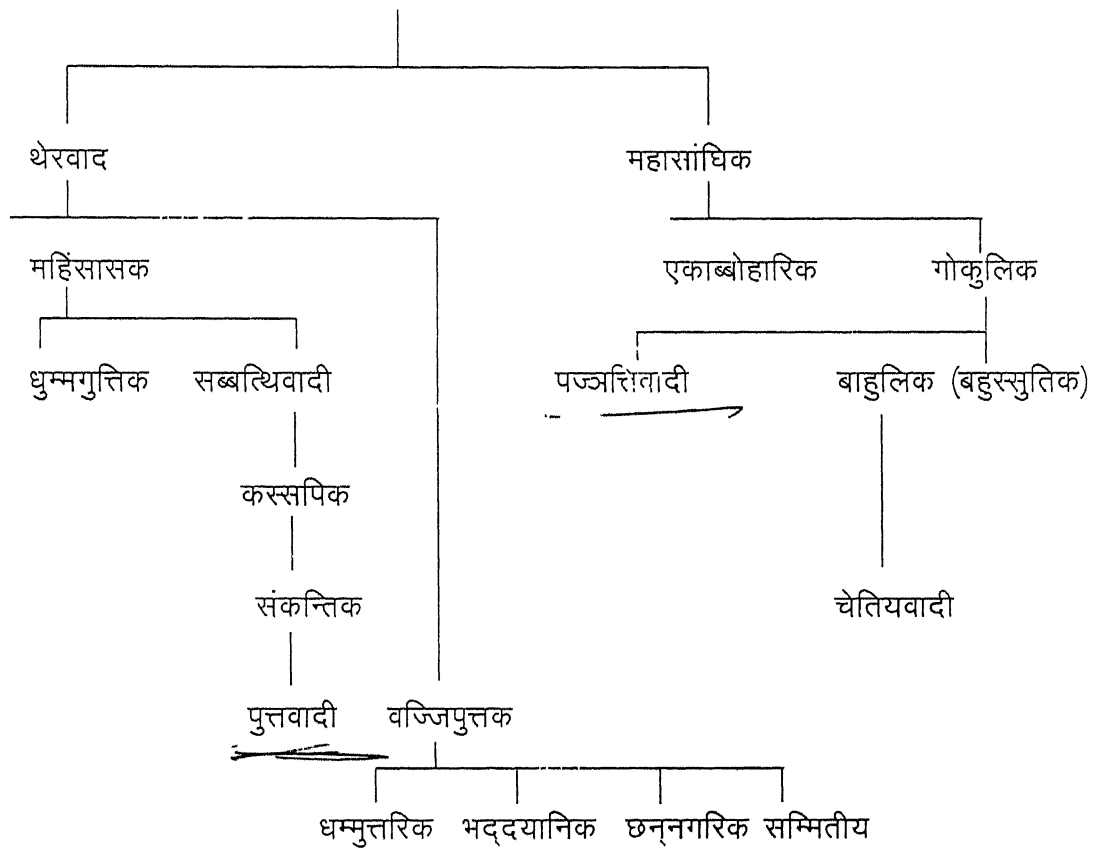
१. डॉ० पाण्डे , बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ १७६;

तृतीय संगीति सम्राट अशोक के काल में हुई। अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था तथा वह स्थविरवादी परम्परा के भिक्षुओं का प्रश्रयदाता था। इस प्रश्रय से आकृष्ट होकर अन्य मतावलम्बी भी संघ में प्रवेश कर गये और वह अपने अपने मत को बुद्ध का मत बताने लगे। वास्तविक भिक्षुओं ने इससे क्षुब्ध होकर उपोसथ (पातिमोक्ख का पाठ) करना बन्द कर दिया। राजा अशोक ने संघ में पुनः उपोसथ प्रारम्भ कराने के लिए तत्कालीन महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स की सहायता से संघ से साठ हजार पाखंडियों को निकाल दिया। तत्पश्चात् बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र के अशोकाराम में तृतीय धर्म–संगीति का आयोजन किया गया। दीपवंस, महावंस एवं समन्तपासादिका, में इस संगीति का विवरण मिलता है। इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्ध वचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया और ६ महीनों के अन्दर भिक्षुओं ने तिस्स मोग्गलिपुत्त के सभापतित्व में बुद्ध–वचनों का संगायन एवं परायण किया। इसी समय तिस्स मोग्गलिपुत्त ने मिथ्यावादी १७ बौद्ध, सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे अधिधम्मपिटक के ग्रन्थों में सम्मिलित कर, त्रिपिटक के अन्य ग्रन्थों के समान सम्मान मिला। इस संगीति में त्रिपिटक को अन्तिम स्वरूप प्रदान किया गया एवं भिक्षुओं को बौद्ध धर्म के प्रचार के निमित्त पड़ोसी देशों में भेजने का निर्णय लिया गया।

बौद्ध संगीतियों के इतिहास से स्पष्ट है कि त्रिपिटक क्रमशः इनमें अन्तिम स्वरुप प्राप्त करते रहे। इन तीनों पिटकों में विनयपिटक एवं सुत्तपिटक की प्राचीनता स्पष्ट है। पहली दो

---

१. उपाध्याय, भरतसिंह, पाली साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५;

संगीतियों के धम्म (सुत्त) एवं विनय के सगायन की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। अधिधम्म पिटक तीसरी संगीति में बुद्ध की शिक्षाओं का नये सिरे से विभाजन करके जोडा गया है। इसका एक ग्रन्थ 'कथावस्तु' स्पष्ट रूप से अशोककालीन है। विनयपिटक एवं सुत्तपिटक के अधिकांश भाग को बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष के अन्दर का ही संकलन मानना चाहिए क्योंकि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदाओं में यही ग्रन्थ राशि हेरफेर के साथ मिलती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यह ग्रन्थ राशि सम्प्रदाय भेद के पहले की है। इसके विपरीत अभिधम्मपिटक में सम्प्रदाय गत भेद अधिक मिलता है। विनयपिटक एवं सुत्तपिटक में बिम्बसार एवं अजातशत्रु के नाम मिलते हैं। परन्तु जो अशोक जो बौद्ध धर्म का महान संरक्षक था उसका नाम नहीं मिलता अतः यह ग्रन्थ अशोक के पूर्व काल का होना ही सम्भाव्य है।

आधुनिक इतिहासकार बुद्ध के महापरिनिर्वाण की तिथि लगभग ४८७ से ४८३ ई० पू० के बीच मानते हैं। इस तिथि का मुख्याधार सिंहली ऐतिहासिक परम्परा है। इस परम्परा के अनुसार .... का राज्याभिषेक बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद हुआ था। (द्रष्टव्य गायिगर–महावंश; रायचौधरी–पालिटिकल हिस्ट्री ऑव ऐन्शियन्ट इण्डिया;) अशोक के राज्याभिषेक २६६ ई० पू० मनाने पर महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ४८७ ई० पू० हो जाती है। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद द्वितीय संगीति का आयोजन हुआ। अतः यह तिथि ३८७ ई० पू० के आसपास ठहरती है और इस सौ वर्ष के मध्य ही विनयपिटक और सुत्तपिटक का संकलन काल ठरहता है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि बुद्ध के निर्वाण की तिथि पर विवाद रहा है। उत्तरी परम्परा के अनुसार जिसमें वसुमित्र का समयभेदोपरचनचक्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है, बुद्ध का परिनिर्वाण एवं पहली संगीति अशोक से सौ वर्ष पूर्व की है। इस मत

को हाल की गंटिगन संगोष्ठी में स्वीकार किया गया है और प्रो० बेशर्ट आदि विद्वान इसे अब सामान्यतया स्वीकार करते हैं। उत्तरी परम्परा मे अशोक एवं काकवर्णी कालाशोक का भेद नहीं किया गया है इसलिए यह परम्परा अश्रद्धेय है। दूसरा इस मत में, बुद्ध कालीन नगर, नगर ही नहीं थे यह माना जाता है। यह कल्पना पुरातत्व समर्थित नहीं है। अतः उत्तरी परम्परा को प्राय. भारत मे स्वीकार नहीं किया जाता।[1]

विनयपिटक

भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया उसका साक्षात्कार जीवन की पवित्रता के बिना सम्भव नहीं था। अत बौद्ध भिक्षु–भिक्षुणियों की जीवनचर्याओं से सम्बन्धित चारित्रिक विधान, नैतिक शिक्षा एवं बौद्ध संघ के लिये किये गये नियम निर्देश ही विनयपिटक का मूलाधार है। प्रथम धर्म–संगीति के प्रारम्भ में उसके सभापति महाकाश्यप ने भिक्षुओं से पूछा "आयुष्मानों . . . हम पहले किसका संगायन करें धम्म का या विनय का? तब भिक्षुओं ने उन्हें उत्तर दिया 'भन्ते महाकाश्यप विनय ही बुद्ध शासन की आयु है, विनय के ठहरने पर ही शासन ठहरता है इसलिए विनय का ही संगायन करे।" इस प्रकार प्रारम्भिक काल से त्रिपिटक के अन्तर्गत विनयपिटक का महत्व स्पष्ट है।[2] विनयपिटक तीन विभागों में विभक्त है। १. सुत्त विभंग २. खन्धक ३. परिवार

सुत्त विभंग दो उपविभागों में विभक्त है यथा पाराजिक (भिक्खु विंभग) एवं पाचित्तिय (भिक्खुनि–विभंग)[1] सुत्त विभंग में 'पातिमोक्ख' के विभिन्न नियमों की विस्तृत व्याख्या है।

---

१. डॉ० पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, स्टडीज इन द ओरिजन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ६०२, ६०३ एवं ६०४

२. विनयपिटक, सम्पादकीय–वक्तव्य, डॉ० परमानन्द सिंह

खन्धक भी दो भागों में विभक्त है १ महावग्ग २. चुल्लवग्ग सुत्त विभंग जब कि अधिकांशतः निषेधात्मक है, महावग्ग का स्वरूप विधानात्मक है। संघ एवं दैनिक जीवन सम्बन्धी विभिन्न नियमों का वर्णन ही खन्धक का उद्देश्य है। महावग्ग एवं चुल्लवग्ग दोनों ही वर्गों में कमश दस दस की संख्या में अध्याय है। परिवार या परिवार–आठ विनयपिटक का अन्तिम भाग है। परिवार को विद्वाण कालान्तर का संकलन स्वीकार करते हैं। परिवार में उन्नीस परिच्छेद है, जिसमें अधिधम्म शैली पर विनयपिटक के विषय की ही पुनरावृत्ति है।[2] कौन सा शिक्षाप्रद कहाँ दिया गया है संघ के झगड़े कितने प्रकार के होते है तथा उपोसथ आदि क्या है जैसे बौद्धधर्म के व्यवहारिक शिक्षा के साथ–साथ महेन्द्र द्वारा श्रीलंका गमन एवं विनयपिटक की परम्परा स्थापित करने एवं उन २६ सिंहली भिक्षुओं के नाम भी दिये गये है जिन्होंने ताम्रपर्णि द्वीप में विनयपिटक का प्रकाशन किया।[3]

महात्मा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनाओं के साथ–साथ शोध–प्रबन्ध के दृष्टि से विनयपिटक हमें अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत सूचनायें देता है। खान–पान वस्त्र–आभूषण, पात्र (बर्तन), जूते आदि से सम्बन्धित विभिन्न भिक्षु–भिक्षुणी नियमों में, हमें तत्कालीन आर्थिक जीवन सम्बन्धी अच्छी झांकी मिलती है। अन्य स्थलों पर भी प्रसंगवस

---

१. इस विभाजन से सम्बन्धित समस्याओं का विस्तार से उल्लेख डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'पालि साहित्य का इतिहास' में किया है।

२. डॉ० उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ३५६

३. प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म, पृ० १२

ऐसी सूचनाये मिल जाती है। एक भाई प्रव्रजित होने के इच्छा से दूसरे भाई को घर—गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों को समझाते हुए कहता है कि घर—गृहस्थी को भली भांति चलाने के लिए "पहले खेत जोतवाना चाहिये जोतवाकर बोवाना चाहिये। बोवाकर पानी भरना चाहिए, पानी भरकर निकालना चाहिए, निकाल कर सुखाना चाहिए, सुखवाकर कटवाना चाहिये, कटवाकर ऊपर लाना चाहिये ऊपर ला सीधा करवाना चाहिये, सीधा कर मर्दन करवाना (— मिसवाना) चाहिये, मिसवाकर पयाल हटाना चाहिये। पयाल को हटाकर भूसी हटानी चाहिये। भूसी हटाकर फटकवाना चाहिये। फटकवाकर जमा करना चाहिये। इसी प्रकार अगले वर्षों में भी करना चाहिए। काम नाश नहीं होते, कामों का अन्त नहीं जान पड़ता।"[१] इन पंक्तियों में पूरी कृषि—प्रक्रिया का चित्रण सजीव हो उठा है।

सुत्त पिटक

सुत्त पिटक पाँच निकायों में विभाजित है— १. दीघ निकाय २. मज्झिमनिकाय ३. संयुत्त निकाय ४. अंगुत्तर निकाय ५. खुद्दक निकाय।

दीघ निकाय

परम्परा के अनुसार दीघ निकाय का नाम उसके अर्न्तगत सूत्रों के प्रमाणदैर्ध्य के कारण है।[२] दीघ निकाय में कुल ३४ सुत्त है जो तीन वर्गो १. सीलक्खन्ध वग्ग, २. महावग्ग, ३.

३— पाथिकवग्ग में विभक्त है। सीलक्खन्ध वग्ग में एक से तेरह सुत्त संग्रहित है। इसमें अधिकतर सुत्त गद्य में है, केवल कुछ सुत्त—गाथाएं पंक्तियों में निबद्ध है। इसमें शील, समाधि एवं प्रज्ञा से सम्बन्धित बुद्धोपदेश के साथ—साथ छः तीर्थकरों पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोसाल,

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ७/१/१

२. डॉ० पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास : पृ० २३१;

अजितकेश, कम्बल, प्रकुध कात्यायन, निगण्ठ नाथपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त के मत, जातिवाद, कर्मकाण्ड एवं अंहिसामय यज्ञ का खण्डन है। इस वग्ग में तत्कालीन समाजिक एव आर्थिक जीवन सम्बन्धी महत्वपूर्ण विवरण मिलता है। जीवकोपार्जन एवं मनोरंजन के विविध साधनों के विषय में शीलक्खन्ध वग्ग में अति महत्वपूवर्ण सूचनायें मिलती है।

'महावग्ग' में १४ से २३ तक सुत्तो का संग्रह है। महावग्ग के महापरिनिब्बाण–सुत्त में महात्मा बुद्ध की जीवन यात्रा के अन्तिम समय की घटनाओं का महत्वपूर्ण चित्रण मिलता है। इसी प्रकार इसमें ऐतिहासिक घटनाक्रम की दृष्टि से अनेक घटनायें वर्णित है। वज्जियों की विरुद्ध अजातशत्रु की शत्रुता, बुद्ध की अन्तिम यात्रा, पाटलिपुत्र का निर्माण, अम्बपाली गणिका का भोजन, निर्वाण की तैयारी, चुन्द के यहाँ अन्तिम भोजन, जीवन की अन्तिम घड़ियाँ, सुभद्र की प्रवज्या, अन्तिम उपदेश, निर्वाण, दाहक्रिया, स्तूपनिर्माण का बडा स्पष्ट चित्रण इसमें हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमे सार्थवाह, विभिन्न प्रकार के वस्त्र आदि आर्थिक इतिहोसोपयोगी घटनायें भी प्रंसगवस आयी है।

'पाथिक–वग्ग' में चौबीसवी संख्या से लेकर चौतीसवीं संख्या तक सुत्त संकलित है। इसमें वर्णव्यवस्था का खण्डन, गृहस्थ बौद्धधर्म, जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ के निर्वाण सम्बन्धी उल्लेख है। शोध विषय की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण सूत्र इसमें हाथ लगते हैं। इससे ज्ञात होता है कि भारतवर्ष नगरीय सभ्यता की ओर तेजी से बढ़ रहा था एवं आबादी की सघनता स्पष्ट हो रही थी। इसमें कहा गया है– "जम्बुद्वीप समृद्व एवं सम्पन्न होगा– ग्राम, निगम, जनपद और राजधानी कुंक्कुट सम्पातिक (मुर्गी कुदान घरों वाली) रहेंगे। नर्कट या सरकंडे के वन की तरह जम्बुद्वीप मानो नरक तथा मनुष्यों की आबादी से भर जायेगा।"[१]

---

१. दीघ निकाय, ३/३

मज्झिम निकाय

मज्झिम निकाय में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसमें महत्व पर प्रकाश डालते हुए पं० राहुल सांकृत्यायन कहते हैं "त्रिपिटक वाङ्मय में मज्झिम निकाय का स्थान सर्वोच्च है। विद्वान लोग इसी के बारे मे कहते हैं, कि यदि सारा त्रिपिटक और बौद्ध साहित्य नष्ट हो जाये, सिर्फ मज्झिम निकाय ही बचा रहे, तो भी इसकी मदद से हमें बुद्ध की व्यक्ति, उनके दर्शन और अन्य शिक्षाओं के तत्व को समझने में कठिनाई न होगी।"[1] यह निकाय तीन विभागों, पन्द्रह वर्गों एवं एक सौ बावन सुत्तों में विभक्त है। ये तीन वर्ग है। १. मूलपण्णासंक, २. मज्झिमपण्णासंक एवं ३. उपरिपण्णसंक। प्रथम दो पण्णसंको में ५०–५० सुत्त है और अन्तिम में ५२। बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ–साथ इसमें तत्कालीन धार्मिक, भौगोलिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक जीवन भी सजीव रूप से विद्यमान है। फसल, पशुपालकों के कर्तव्य एवं गुण, शल्य चिकित्सा, विभिन्न प्रकार के उद्योग–धन्धे विशेषकर कुम्भकारी एवं धातु सम्बन्धी शिल्पों, दासियों की स्थिति आदि की, हमे शोधोपयोगी महत्वपूर्ण सामाग्री प्राप्त होती है।

संयुत्त निकाय

'दीध निकाय में उन सूत्रों का संग्रह है जो आकार में बड़े है। उसी तरह मझोले आकार के सूत्रों का संग्रह मज्झिम निकाय में एवं संयुत्त निकाय में छोटे–बड़े सभी प्रकार के सूत्रों का 'संयुत्त' संग्रह है।'[1] इस निकाय के सूत्रों की कुल संख्या ७७६२ है। संयुत्त निकाय पॉच वर्गो

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप, आमुख, संयुत्त निकाय

(खण्डो) एवं छपपन संयुत्तों में विभक्त है। ये पांच वर्ग इस प्रकार है। १. सगाथा वर्ग (१० संयुत्त), २. निदान वर्ग (१० संयुत्त), ३. खन्धक वर्ग (१३ संयुत्त), ४. सलायतन वर्ग (१० संयुत्त), ५. महावग्ग (१० संयुत्त)। बौद्ध धर्म एवं दर्शन के दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद, स्कन्धवाद, सलायतनवाद, अष्टांगिक मार्ग आदि महत्वपूर्ण व्याख्यान के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से कोसलराज प्रसेनजित एवं मगधनरेश अजातशत्रु के मध्ययुद्ध, भगवान बुद्ध द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्तन, कौशाम्बी नरेश उदयन, लिच्छवी कोलिय आदि राजाओं के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी इस निकाय से प्राप्त होती है। शोध के विषय की दृष्टि से वृष्टि की महत्ता, बैलों का प्राणियों का सहायक होना, कृषि सम्बन्धी अन्य विवरण, धातु–उद्योग, वस्त्र–उद्योग नट आदि की तत्कालीन दशा का इस निकाय में विस्तृत विवरण मिलता है।

अंगुत्तर-निकाय

संख्याबद्ध शैली में लिखा गया यह निकाय ग्यारह निपातों में विभक्त है– यथा एककनिपात, दुक निपात, तिक निपात, चतुक्क निपात, पंचक निपात, दक्क निपात, सत्तक निपात, अट्ठक निपात, नवक निपात, दसक निपात तथा एकादशक निपात। प्रत्येक निपात वर्गो में विभक्त है, इस प्रकार कुल १६६ वर्ग है। प्रत्येक वर्ग में अनेक सुत्त है, जिनकी कम से कम संख्या सात और अधिक से अधिक २६२ है। कुल मिलाकर अंगुत्तर निकाय में २३०८ सुत्त है। अन्य ग्रन्थो की भाति यह भी बौद्ध धर्म एव दर्शन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके एकक निपात में उन भिक्षु–भिक्षुणी, उपासक एव उपासिका की सूची मिलती है जिन्होंने बौद्ध शिक्षा की किसी विशेष शाखा में दक्षता प्राप्त की थी। भौगोलिक दृष्टि से अंगुत्तर--निकाय में प्रथम बार सोलह महाजनपदों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शोध प्रबन्ध की दृष्टि से बहेलिये की स्थिति, तटदर्शी पक्षी (नौका पर दिशा ज्ञान देने वाला), अच्छे खेत की पहचान, धातु सम्बन्धी विवरण आदि का उल्लेख मिलता है।

खुद्दक निकाय

खुद्दक निकाय पन्द्रह स्वतंत्र ग्रन्थों का एक निकाय है। इनकी भाषा–शैली में समरुपता नहीं दिखाई देती। कही इनमें पद्यात्मक शैली अपनायी गई है, कही गद्य–पद्य दोनों का मिश्रण है। काव्य, आख्यान, गीत यही खुद्दक–निकाय के विषय है।[1] इस निकाय में निम्नलिखित पन्द्रह ग्रन्थों का गणना होती है।

१. खुद्दक पाठ — २. धम्मपद

३. उदान — ४. इतिवुत्तक

५. सुत्तनिपात — ६. विमानवत्थु

७. पेतवत्थु — ८. थेरगाथा

९. थेरीगाथा — १०. जातक

११. निद्देस — १२. पटिसम्भिदामग्ग

१३ अपदान (थेरदान तथा थेरीपदान) — १४. बुद्धवंस

१५. चरियापिटक

इन सभी ग्रन्थों में भाषा एवं विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान एवं इतिवुत्तक प्राचीनतम युग के सूचक है।[2] खुद्दकपाठ नौ छोटे–छोटे सुत्तों का संग्रह है इसके प्रायः सभी सुत्त अन्य पालि ग्रंन्थो में भी संकलित है। इसकी मुख्य विषयवस्तु बौद्ध धर्म की व्यवहारिक शिक्षा है। धम्मपद का का शाब्दिक अर्थ है धर्म सम्बन्धी पद या शब्द। धम्मपद में

---

१. उपाध्याय भरतसिंह. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २२०

२. वही, पृ० २२७, सांकृत्यायन, राहुल, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १२१;

कुल चार सौ तेईस (४२३) गाथाए है, जो छब्बीस वर्गों में विभक्त है। पंडित राहुल सांकृत्यायन का मानना है कि 'सम्पूर्ण धम्मपद बुद्ध का सुभाषित रत्न है।'[1] इसके विषय में डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का कहना है "बुद्ध उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालि साहित्य मे नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतना ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है।'[2] शोध विषय की दृष्टि से कृषि, एव पशु आदि से सम्बन्धित प्रसग इसमे यत्र–तत्र विद्यमान है। उदान में भगवान् बुद्ध द्वारा उच्चारित वचनों का संग्रह है। भगवान बुद्ध द्वारा उच्चारित ये वचन अधिकतर गाथाओं के रूप में है और जिन अवसरों पर वे उच्चारित किये गये, उनका वर्णन गद्य में है। उदान के आठ वर्ग है एवं प्रत्येक वर्ग में दस सुत्त है केवल सातवे वर्ग में नौ सुत्त है। इतिवुत्तक ग्रंथ के प्रत्येक सुत्त में 'इतिवुत्त भगवता' (ऐसा भगवान ने कहा) यह पद बार बार आता है अतएव इसका नाम ही 'इतिवुत्तक' पड़ गया। इसमें एक सौ बारह सुत्त है जो चार वर्गों या निपातों में विभक्त है। इतिवुत्तक गद्य एवं पद्य दोनों में है। बौद्ध साहित्य में सुत्त–निपात अनेक दृष्टियों से अमूल्य ग्रन्थ है।

खुद्दक निकाय के ग्रन्थों में इसकी प्राचीनता निर्विवाद है। इसके 'अट्ठकवग्ग' सोण कुटिकण्ण को भलीभांति कण्ठस्थ था एवं उसने कुशलतापूर्वक इसका भगवान् के सम्मुख पाठ भी किया। अशोक के भाबू शिलालेख में इसके तीन सुत्तों का उल्लेख आया है। भाषा–विज्ञान की दृष्टि से भी इसकी भाषा वैदिक (छन्दस) भाषा से मिलती जुलती है। सुत्त–निपात पॉच वर्गो एवं बहत्तर (७२) सुत्तों में विभाजित है। बौद्ध धर्म एवं साधना की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने

---

१. सांकृत्यायन, राहुल, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० १२२

२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २३८

के साथ–साथ इसमें हमारे शोध प्रबन्ध के लिए महत्वपूर्ण सूचनायें मिलती है। इसके धनिय सुत्त एव कसि–भारद्वाज सुत्त क्रमश तत्कालीन गोपालकों एवं कृषकों के सुखी, सम्पन्न एवं सश्रम जीवन का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसके पारायण वग्ग के वत्थु गाथा में बुद्धकालीन प्रमुख व्यापारिक मार्गो का सुस्पष्ट वर्णन है। 'विमानवत्थु' एवं 'पेतवत्थु' स्पष्ट ही परवर्ती ग्रन्थ है।[1] विमानवत्थु में विमानों या देव–आवासों की कथाएं हैं। इसमें ८५ देव आवासो का वर्णन है जो सात वर्गो मे विभक्त है। 'पेतवत्थु' में ५० प्रेतों की कहानियॉं है, जो चार भागो में विभक्त है। बौद्ध धर्म ने जनसाधारण के लिए जिस नीति–विधान का आदर्श रखा है, उसी को विमानवत्थु एवं पेतवत्थु में बताया गया है। थेरगाथा एवं थेरीगाथा में क्रमशः भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों द्वारा निर्मित गाथाएं संग्रहित है। थेरगाथा १२७६ (पालिश्लोक) गाथाएँ है जो २१ निपातो मे विभक्त है सुन्दर प्रकृति वर्णन, निर्लिप्त शान्त जीवन, काया मोह से मुक्ति थेरगाथा के वर्णनों की विशेषताएं हैं। थेरीगाथा में ५२२ गाथाएं हैं इनमें ७३ (पृथक् पृथक् गणना करने पर सौ) भिक्षुणियों के उद्‌गार थेरीगाथा में समाहित हैं। मुक्ति की शान्ति, व्यैक्तिक भावनाओं की प्रबलता इन थेरीगाथाओं का विशिष्टता है। बुद्धकालीन आर्थिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न वर्गों (यथा भंगी, कुम्हारिन) कृषि कार्यों में प्रयुक्त उपकरणों, आभूषणों आदि का वर्णन भी थेरगाथा एवं थेरीगाथा में प्राप्त है। 'जातक' खुद्‌दक निकाय का सबसे बड़ा प्रसिद्ध एवं दसवॉं ग्रन्थ है। जातक भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ है। इन सभी पूर्व जन्मों में बुद्ध की संज्ञा बोधिसत्व थी। बोधि का अर्थ है बुद्धत्व एवं सत्व का अर्थ है प्राणी। 'बोधिसत्व' – बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी को कहा जाता है। इन पूर्व जन्मों में बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील वोधिसत्व दान, शील आदि दस पारमिताओं का अभ्यास करते है। प्रत्येक जातक कथा के पाँच भाग हैं– १ पच्चुप्पनवत्थु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन काल

---

१. डॉ० पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म का विकास का इतिहास, पृ० २३३

की घटना से इसका तात्पर्य है। २–अतीतवत्थु भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथा है। ३–गाथाएँ ही जातक का प्राचीनतम भाग है। वास्तव में गाथाएँ ही स्वयं जातक है। जातक के जो चार अन्य अवयव बताए गये हैं वे इन "गाथा" भाग की व्याख्या एवं कालान्तर की रचना है। परन्तु केवल गाथाओं से काम नहीं चलता। वे अपने पूरे अर्थ की अभिव्यक्ति अपने व्याख्या अंशो से मिल कर करती हैं। स्पष्ट है ५४७ जातक कथाओं के संग्रह को, जिन्हें हम 'जातक' कहते हैं 'जातकट्ठकथा' (जातक के अर्थ की व्याख्या) ही कहना चाहिए। गाथाओं के बाद प्रत्येक जातक में वैय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और इनका शब्दार्थ रहता है। समोधन सबसे अन्त में आता है जिसमें बुद्ध बताते हैं कि उन्होनें जो अतीत–वत्थु सुनाई उनके प्रधान पात्रों में, कौन पात्र इन जन्म में क्या है और वे स्वयं कौन सी योनि में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार सम्पूर्ण जातक गद्य–पद्य मिश्रित रचना है जो २२ निपातो में विभक्त है। हमारे शोध–विषय के दृष्टि से हमें इन 'जातकों' से अमूल्य सूचनायें मिलती हैं। बुद्ध कालीन आर्थिक वातावरण हमनें सजीव एवं वृहद रूप में विद्यमान है जिसका इनमे शोध–प्रबन्ध में प्रयोग करने का पूरा प्रयास किया है।

'निद्देश' ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है चूलनिद्देस एवं महानिद्देस। महानिद्देस सुत्त–निपात के अट्ठग–वग्ग की व्याख्या है एवं चुल्लनिद्देस सुत्त–निपात के ही खग्गविसाण–सुत्त और पारायण–वग्ग (वत्थुगाथा को छोड़कर) की व्याख्या है। महानिद्देस में बहुत से देशों एवं वन्दरगाहों, स्थल मार्गों एवं जल मार्गों का विवरण मिलता है जिनसे भारत का व्यापार होता था। 'पटिसम्भिदामग्ग' में अर्हत् के प्रतिसंवित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। इसकी शैली एवं विषय अधिधम्म पिटक की है। 'अपदान' की विषयवस्तु ५४७ बौद्ध भिक्षुओं एवं ४० भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथाओं का चित्रण है जातक के समान इसकी भी कहानी के दो भाग हैं। एक अतीत से जन्म सम्बन्धी एवं दूसरी वर्तमान से जन्म सम्बन्धी। अपदान दो

भागों में विभक्त है। थेर–अपदान मे पचपन वर्ग है एवं थेरी अपदान में चार वर्ग है। 'बुद्धवंस' २८ परिच्छेदो की पद्यात्मक कृति है। इसमें २५ पूर्ववर्ती बुद्धों एवं एक स्वयं गौतमबुद्ध की जीवन–गाथा विवृत्त है। 'चरियापिटक' खुद्दक निकाय का पन्द्रहवॉ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सात पारमिताओ दान, शील, नैष्क्रम्य, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री एवं उपेक्षा का वर्णन प्राप्त होता है जो बुद्ध के पूर्वजन्म की चर्य्याओ से सम्बन्धित है। इन पारमिताओं की पूर्णता के बाद ही 'भगवान बुद्ध' बुद्ध बन सके हैं। यह ग्रन्थ सात परिच्छेदों में विभक्त है।

चारियापिटक के प्रत्येक चर्या किसी जातक कथा से मिलती जुलती (एक को छोडकर) है एवं यह पद्यात्मक रूप में है। इसमें सँपेरा, कृषक, व्यापारी आदि कुछ आर्थिक तथ्यों का भी विवरण मिलता है।

अध्याय-२

भौगोलिक परिचय

भौगोलिक परिचय

प्रारम्भिक पालि साहित्य से ज्ञात आर्थिक विवरण भारतवर्ष के किस क्षेत्र पर लागू होता है इसके लिए हमें प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य का भौगोलिक दृष्टि से अनुशीलन करना होगा। डॉ० भरत सिंह उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' में पालि त्रिपिटक एवं उसकी अट्ठकथा के आधार पर भगवान बुद्ध की चारिकाओं का कालानुक्रम विवेचन किया गया है[1]। मोटे तौर पर यह क्षेत्र आधुनिक मध्यउत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश और सारे बिहार प्रांत में फैला हुआ है। गौतम बुद्ध ने पश्चिम में मथुरा के समीप के क्षेत्र से लेकर पूर्व में वैशाली, राजगृह एवं चम्पा के मध्य, लोगों को अपने सदुपदेशों से लाभान्वित किया। इस शोध प्रबन्ध में उन क्षेत्रों का ही भौगोलिक परिचय दिया जा रहा जो विनयपिटक एवं सुत्तपिटक में चर्चित है, प्रसिद्ध है, जहाँ बौद्ध धर्म सर्वाधिक प्रचारित हुआ। प्रारम्भिक पालि साहित्य में समाहित इन क्षेत्रों का परिचय निम्न रूप में दिया जा सकता है–

१. नदी एवं जलाशय

२. वन एवं उद्यान

३. महाजनपद एवं नगर

४. ग्राम एवं निगम

---

१. डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, दूसरा परिच्छेद;

नदी और जलाशय

अचिरवती– बौद्ध साहित्य में इसकी गणना पॉंच महानदियों– गंगा, यमुना, अचिरवती, मही, सरयू– में की गई हैं।[1] सालित्त जातक,[2] कुरुधम्म जातक[3] एवं सीलानिंसस जातक से स्पष्ट है कि प्रसिद्ध कोसल राज्य की राजधानी इसी श्रावस्ती नदी के तट पर वसी थी। इसका समीकरण वर्तमान राप्ती नदी से किया गया है। अंगुत्तर निकाय में इस नदी के ग्रीष्म काल में सूख जाने की सूचना मिलती है।

अनोमा-

अनोमा नदी के तट पर ही भगवान् बुद्ध ने राजकुमार की राजसी वेशभूषा का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की।[4] इस नदी के समीकरण के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

---

१. सयुत्त–निकाय, पाचवॉं खण्ड, हि० अ० पृष्ट ८२३;

२. सालित्त जातक, जातक संख्या १०७;

३. कंरुधम्म जातक

४. जातक, हि० अ० पृष्ठ १३५;

कनिघम ने इसे वर्तमान औमा नदी माना[1] है यहीं मत भरतसिंह उपाध्याय का भी है।[2] कारलायल ने इसे वस्ती जिले की वर्तमान कुडवा नदी बताया है।[3] भिक्षु जगदीश काश्यप एवं त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित की दृष्टि में देवरिया जिले की मंझन नदी ही अनोमा नदी थी।[4]

बाहुका- बुद्ध–काल में यह एक पवित्र नदी मानी जाती थी। सुन्दरिक भारद्वाज इस नदी के विषय में भगवान् बुद्ध से कहता है "हे गौतम! बाहुकानदी लोकमान्य (=लोक–संमत है), बाहुकानदी बहुत जनों द्वारा पवित्र (=पुण्य) मानी जाती है। बहुत से लोग बाहुकानदी में (अपने) किये पापों को बहाते हैं।"[5]

बाहुमती- वर्तमान काल में यह नदी वाग्मती कहलाती है। यह नेपाल से होते हुए बिहार राज्य में आती है। मज्झिम निकाय में एक पवित्र नदी के रूप में इसका उल्लेख है।[6]

चम्पा-

चम्पेय जातक से स्पष्ट है कि यह नदी मगध और अंग जनपदों की सीमा पर बहती थी।[7] अंग जनपद इसके पूर्व में था और मगध पश्चिम में।

---

१. एन्शियन्ट ज्योग्राफी आव इण्डिया, पृष्ठ ४६६–४६१

२. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३३

३. आर्केलोजीकल सर्वे, भाग २२, पृष्ठ २२४

४. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ १०

५. मज्झिम–निकाय, १/१/७;

६. वही;

७. चम्पेय्य जातक

गंगा - बौद्ध साहित्य में इस नदी का अनेक बार उल्लेख आया है। संयुत्त–निकाय के अनेक सुत्तो मे पंच–महानदियों गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू एवं मही– का उल्लेख एक साथ मिलता है।[1] तत्कालीन प्रसिद्ध नगर काशी[2], पाटलिपुत्र[3] एवं प्रयाग[4] गंगा नदी के किनारे वसे थे। गंगा नदी यात्रियों एवं माल के परिवहन का एक प्रमुख साधन थी। गंगा नदी के मुहाने से लेकर चम्पा, पाटलिपुत्र वाराणसी एवं सहजाति तक माल का परिवहन होता था।[5] गंगा हिमालय के गगोत्री हिमनद से निकल कर अनेक छोटी–बडी नदियों का संगम करती हुई, अन्त मे समुद्र मे विलीन हो जाती है।[6]

हिरण्यवती-

दीघनिकाय के महापरिर्निवाण सुत्त में हिरण्यवती नदी के तट पर कुशीनारा के मल्लों के उपवत्तन नामक शालवन का उल्लेख है।[7]

पंडित राहुल सांकुत्यायन,[8] डॉ० भगतसिंह उपाध्याय,[9] त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित[10] के मतानुसार इनका आधुनिक नाम सोनरा नाला है परन्तु डॉ० राजबली पाण्डेय[11] एवं डॉ० विमलचरण लाहा ने इसका समीकरण छोटी गण्डक से किया है।[12]

---

१. संयुत्त–निकाय, पठम–सम्बेज्ज सुत्त, दुतिय सम्बेज्ज सुत्त, समुछ–सुत्त;

२. तक्क जातक, चक्कवाक जातक, सिगाल–जातक

३. दीघ–निकाय, महापरिनिर्वाणसुत्त

४. जातक, छठा भाग, पृष्ठ ११८,

५. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५४२;

६. महाउम्मग्ग जातक;

७. दीघ–निकाय, महापरिनिर्वाण सुत्त, २/३

८ बुद्धचर्या, पृष्ठ ५७२;

९. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३४;

१०. संयुत्त–निकाय, प्रथम खण्ड, हि० अ० पृष्ठ १०;

११. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृष्ठ १०;

१२. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ ५३;

ककुत्था

दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में उल्लेख आया है कि भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के पूर्व इस नदी का जल पीया था[६] एवं 'उत्तम, सुंदर, स्वच्छ जलवाली ककुत्था नदी पर जा, लोक में अद्वितीय, शास्त्रा ने अक्लान्त हो स्नान किया।' 'भिक्षु धर्मरक्षित[१] कार्लाइल,[२] इसे घाघी नदी मानते हैं कि भरतसिंह उपाध्याय[३] इसका समीकरण बरही नामक छोटी सी नदी से करते है, जो कसया से ८ मील नीचे छोटी गण्डक में मिलती है।

मही-

धनिय सुत्त में उल्लेख आया है कि विदेह राष्ट्र मे मही नदी के तट पर रहने वाले धनिय ग्वाले ने अपनी पत्नी के साथ प्रव्रज्या ली थी। आधुनिक बड़ी गंडक से मही नदी का समीकरण किया जाता है।[४]

संयुत्त–निकाय के विभिन्न सुत्तो में इसकी गणना पंच–महानदियों में की गई है और इसे पूर्व की ओर बहते दिखाया गया है।[५] डॉ० भरतसिंह उपाध्याय[६], भिक्षु धर्मरक्षित[७] ने इसका समीकरण बड़ी गण्डक से किया है किन्तु विमलचरण लाहा ने इसे गण्डक की एक सहायक नदी बताया है।

---

१. दीघ–निकाय २/३,

२. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ १०;

३. ऐंशियेंट ज्याग्रफी, पृष्ठ ३६७,

४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३४;

५. सुत्त–निपात, धनिय सुत्त १/२;

६. संयुत्त–निकाय

७. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३२;

८. संयुत्त–निकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०;

नेरंजना-

महात्मा बुद्ध को अत्यन्त कठोर तपस्या, काया–क्लेश के बाद भी जब बुद्धत्व की प्राप्ति न हो सकी तो उन्होंने इस मार्ग को असफल मान मध्यम मार्ग द्वारा ज्ञान–प्राप्ति का प्रयत्न किया। सुजाता नामक तरुणी की निर्जल–मधुर–खीर को इसी नेरंजना नदी के तट पर ग्रहण किया।[1] कालान्तर में भी भगवान् बुद्ध यहाँ अनेक बार आये।[2] नेरंजना नदी का आधुनिक नाम नीलाजन नदी है, जो बुद्ध–गया के समीप हो कर बहती है।[3]

रोहिणी- शाक्यों का कपिलवस्तु एवं कोलियों का कोलिय–नगर के मध्य से रोहिणी नदी बहती बहती थी। जिस पर एक ही बाँध निर्मित कर दोनों नगरवासी कृषि किया करते थे। एक बार जेठ माह के अन्त में खेती के कुम्हला जाने पर दोनों नगर–वासियों में भीषण सघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी परन्तु भगवान् बुद्ध के हस्ताक्षेप से किसी प्रकार संघर्ष टाला जा सका।[4] वर्तमान समय में भी इसे रोहिणी कहते है यह गोरखपुर के पास राप्ती नदी में गिरती है।[5]

सरयू-

सरयू नदी के तट पर साकेत के अञ्जन वन में भगवान् बुद्ध के साथ विहार करते हुए स्थविर गवम्पति ने नदी में अकस्मात् बाढ़ आ जाने पर अपने प्रताप से नदी के जल को आगे बढ़ने से रोक दिया था।[6] स्पष्ट है कि साकेत नगरी इसके तट पर स्थित थी। प्रारम्भिक पालि साहित्य के अनेक ग्रन्थें में पंच महानदियों के साथ इसकी गणना की गई है।[7] यह हिमालय से निकल कर बिहार प्रान्त में गंगा से मिलती है। इसे घाघरा, देहवा आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है।

---

१. जातक, प्रथम, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४०–१४१;

२. विनयपिटक, महावग्ग १/१/१; मज्झिम निकाय १/३/६;
मज्झिम निकाय, १/४/६; मज्झिम निकाय २/४/५

३. भिक्षु धर्मरक्षित, सयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ १०; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३५;

४. कुणाल जातक, जातक संख्या ५३६,

५. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ १०;

६. थेरगाथा, गाथा ३८;

७. संयुत्त–निकाय

सप्पिनी-

संयुत्त–निकाय के सनंकुमार सुत्त से स्पष्ट है कि यह नदी राजगृह से होकर बहती थी एवं भगवान इस नदी के तीर पर विहार कर रहे थे।[१]

बुद्ध के समय इसके तट पर परिव्राजकाराम था।[२] सप्पिनी नदी का समीकरण वर्तमान पंचान नदी से किया जाता है।

वैतरणी-

संयुत्त–निकाय में कहा गया है 'जो धर्मानुकूल, उत्साह–पूर्वक परिश्रम कर अर्जित कर दान देना देता है वह यम की वैतरणी को लॉघ, दिव्य स्थानों को प्राप्त होता है।[३] जातको में इसका प्रसंग आता है। इस सम्बन्ध भरतसिंह उपाध्याय का कथन ही सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि "हम पालि की– यम की वैतरणी– को भूलोक मे ढूँढना पसन्द नहीं करते।"[४]

सुन्दरिका-

कोशल राज्य में बहने वाली इस नदी के तट पर सुन्दरिक–भारद्वाज ब्राह्मण अग्नि हवन कर हुतावशेष की परिचर्या करने का उल्लेख सुन्दरिक सुत्त में आता है।[५] मज्झिम–निकाय के वत्थ–सुत्तन्त में पवित्र नदियों में इसका भी नामोल्लेख है।[६]

---

१. संयुत्त–निकाय, सनंकुमार सुत्त

२. अंगुत्तर–निकाय, भाग दो, पृष्ठ १७६, पृष्ठ २१;

३ संयुत्त–निकाय, हिन्दी अनुवाद, पुष्ठ २२;

४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १३६;

५. संयुत्त–निकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३४;

६. मज्झिम–निकाय १/१/७;

यमुना-

अंगुत्तर निकाय में पचमहानदियों में इसकी गणना की गई है। मथुरा एवं कौशाम्बी के प्रसिद्ध नगर इसके तट पर वसे थे।

गग्गरा पुण्करिणी-

चम्पा नगर में यह स्थिति थी। भगवान् बुद्ध ने दीघ–निकाय के सोणदण्ड–सुत्त का उपदेश इसी के तट पर दिया था।[1] मज्झिम–निकाय के कन्दरक[2] सुत्तन्त एवं अंगुत्तर निकाय के कई सुत्तो का उपदेश इस पुण्करिणी के तट पर दिया था।

सुमागधा-

गिरिव्रज (प्राचीन राजगृह) को घेरने वाली पॉच पहाड़ियों में से एक गृध्रकूट पर्वत के नीचे 'सुमागधा' पुष्करिणी थी। सुमागधा पुष्करिणी से कुछ ही दूरी पर न्यग्रोध नामक परिव्राजक तीन हजार परिव्राजकों की बड़ी मण्डली के साथ उदुम्बरिका परिव्राजकाराम में वास करता था जहॉ भगवान् बुद्ध ने उदुम्बरिकसीहनाद–सुत्त का उपदेश दिया था। इसी सुत्त में इस पुष्करिणी के तट पर मोरनिवाप का उल्लेख भी मिलता है।[3]

देवदह पुष्करिणी-

कोलियो के देवदह जनपद में यह पुष्करिणी स्थित थी।

---

१. दीघ–निकाय १/४

२. मज्झिम–निकाय, कन्दकर सुत्तन्त, २/१/१;

३. दीघ–निकाय, ३/२;

वन एवं उद्यान

अञ्जनवन-

साकेत नगर में यह वाटिका स्थित थी। इसे अञ्जनवन मुगदाव भी कहा जाता था[1] क्योंकि यहाँ मृगस्वच्छंदता से भ्रमण करते थे। उन्हें अभय दिया गया था। भगवान् बुद्ध यहाँ अनेक बार आये। संयुत्त–निकाय के अनेक सुत्तो का यहाँ उपदेश दिया था।[2] साकेत जातक को भी भगवान ने यही उपदिष्ट किया था।

आम्रवन-

प्रारम्भिक पालि साहित्य में विभिन्न स्थानों पर विद्यमान आम्रवन की चर्चा आयी है जिसमें प्रमुख आम्रवन निम्न है–

जीवकाम्रवन-

मगधराज्य के सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक ने राजगृह के इस वन को बुद्ध प्रमुख भिक्षु–संघ को समर्पित किया था। साढ़े वाहर सौ भिक्षुओं के महाभिक्षुसंघ के साथ विहार करते हुए भगवान बुद्ध ने यही सामञ्जफल–सुत्त का उपदेश दिया था।[3]

आम्रपाली का आम्रवन-

दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त से स्पष्ट है कि वैशाली की गणिका आम्रपाली ने इस आम्रवन को बुद्ध प्रमुख भिक्षु–संघ को दान दिया था।[4]

---

१. संयुत्त–निकाय; हि० अ० पृष्ठ ५६;

२. संयुत्त–निकाय, ककुधसुत्त, कुण्डलि सुत्त, साकेत सुत्त;

३. दीघ निकाय १/२;

४. दीघ–निकाय, २/३;

उपवत्तन शालवन-

हिरण्यवती नदी के तट पर, कुसीनारा के मल्लों का 'उपवत्तन' नामक शालवन था। इस वन मे शाल वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था।[१]

सिंसपावन- बौद्धसाहित्य में कई सिंसवा–वनों का उल्लेख आता है। कोसल राज्य में सेतव्या नगर के उत्तर में सिंसपा (शीशम का) वन था। भगवान बुद्ध ने दीघ–निकाय के पायासिराजञ्ञ–सुत्त का उपदेश इसी वन में दिया था।[२]

सुभगवन-

दीघ–निकाय के महापदान–सुत्त में कोशल देश के ग्राम उक्कट्ठा के पास भगवान बुद्ध के 'सुभगवन' के सालवृक्ष के नीचे विहार करने का उल्लेख मिलता है।[३] मज्झिम–निकाय के मूलपरियाय सुत्तन्त का उपदेश भगवान् ने सुभगवन में ही दिया।[४] इसी निकाय के ब्रह्मनिमन्तनिक सुत्तन्त में भी इस वन का उल्लेख आया है।[५]

महावन-

महावन उस बड़े वन को कहते थे, जो कपिलवस्तु से वैशाली तक फैला था।[१] महावन के उस हिस्से में जो कपिलवस्तु के समीप स्थित था भगवान बुद्ध ने कई बार बिहार किया।[२]

वैशाली में इस महावन के समीप एक कूटागारशाला थी जिसे महावन कूटागारशाला कहा जाता था। भगवान् बुद्ध यहाँ पर अनेक बार आये और अनेक सुत्तो को उपदिष्ट किया। वैशाली की महावन स्थिति कूटागारशाला बौद्ध धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यही पर गौतम बुद्ध की क्षीरदायिका मौसी महाप्रजापति गौतमी को प्रवज्या की अनुमति मिली थी जिससे स्त्रियों के लिए भी बुद्ध--संघ का द्वारा खुला।[३]

---

१. दीघ–निकाय, २/३;
२. दीघ निकाय, २/१०;
३. दीघ निकाय २/१
४. मज्झिम –निकाय, १/१/१;
५. वही, १/५/६,
६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ– २६३;
७. मज्झिम–निकाय, मधुपिण्डिकसुत्त
संयुत्त निकाय, समय सुत्त
८. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/१/१;

जातियावन-

यह वन अंग राज्य के भद्दिय नगर में स्थित था। भिक्षुओं को पादुकाओं सम्बन्धी विभिन्न निर्देश यही दिये गये थे।[1] मेंडक गृहपति ने यही भगवान् बुद्ध के दर्शन किये थे।[2] समन्तपासादिका में कहा गया है इस वन का जातियावन नाम पड़ने का कारण था, क्योंकि यहाँ जाति या जायफल वृक्षों की बहुलता थी।[3]

ऋषिपतन मृगदाव-

यह बौद्ध–धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थस्थान है। ज्ञान प्राप्ति के बाद पंचवर्गीय भिक्षुओं को अपना प्रथम धर्मोपदेश भगवान ने यही दिया था जिसे धर्मचक्रप्रवर्तन कहा जाता है।[4] दीध–निकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में चार प्रमुख दर्शनीय एवं वैराग्यप्रद स्थानों में इसकी गणना की गई है।[5] भगवान बुद्ध इसके बाद भी यहाँ कई बार आये और उपदेश दिये।[6]

सीतवन-

यह राजगृह में सीतवन अर्थात् शवस्थान कुंज था।[7] सोण नामक श्रेष्ठिपुत्र को भगवान ने यही "अत्यधिक उद्योग–परायणता औद्धत्य को उत्पन्न करती, अत्यन्त शिषिलता कौसीद्य (=शारीरिक आलस्य) उत्पन्न करती है" इसलिए समता को (मध्य मार्ग को) ग्रहण करना

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११;

२. वही, ६/६/३;

३. समन्तपासादिका, भाग एक, पृष्ठ २८०;

४. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६;

५. दीघ–निकाय २/३;

६. संयुत्त निकाय, पास सुत्त, पंच वग्गिय सुत्त, धम्मदिन्न सुत्त,

७. प्राचीन भारत का ऐतिहासकि भूगोल, पृ० ४३६;

चाहिए, का उपदेश दिया था।[१] श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक ने भगवान् के प्रथम दर्शन राजगृह के सीतवन मे ही किये थे।[२]

जेतवन-

श्रावस्ती के श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती में चारो ओर छानवीन कर"भगवान कहॉ निवास करेंगे? (ऐसी जगह) जो कि गॉव से न बहुत दूर हो न बहुत समीप, चाहनेवालों के आने–जाने योग्य हो, इच्छुक मनुष्यों के पहुॅचने लायक हो; दिन को कम भीड़ रात को अल्प–शब्द, वि–जन–वात (=आदमियों की हवा से रहित) मनुष्यों से एकान्त, ध्यान के लायक हो" उपरोक्त गुणों से युक्त जेतराजकुमार के उद्यान का चुनाव किया। गाड़ियों पर हिरण्य लदवाकर पूरी जेतवन उद्यान की भूमि पर बिछा कर उसे, जेतराजकुमार से खरीदा। यहॉ अनाथपिण्डिक ने विभिन्न सुविधाओ से युक्त विहार (=भिक्षु विश्राम स्थान) वनवाया।[३] सबसे अधिक सुत्त भगवान द्वारा यही उपदिष्ट हुए।

लट्ठिवन-

राजगृह के समीप स्थित इस वन में वॉस वृक्ष की अधिकता के कारण उसका यह नाम पडा।[४] मगध नरेश बिम्बसार ने इसी वन में भगवान् का दर्शन कर भिक्षुसंघ सहित भोज के लिए निमंत्रण दिया।[५]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/२;

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/३/१;

३. वही;

४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ–१६६;

५. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१७;

वेणुवन कलन्दक निवाष-

एकान्तवास के योग्य मगध का यह स्थान मगध नरेश बिम्बसार द्वारा बुद्ध–सहित भिक्षुसंघ को समर्पित किया गया था।[१] इस वन में गिलहरियों (कलन्दक) को नियमित रूप से चारा (निवाप) दिये जाने के कारण यह स्थन कलन्दक निवाप कहा जाता था।[२] यहाँ भगवान् ने अनेक बार निवास किया एवं अनेक विनय–नियमों को उपदिष्ट किया। पूर्व में संजय नामक परिव्राजक के शिष्य, सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या यही सम्पन्न हुई।[३]

अन्धवन-

यह श्रावस्ती के समीप स्थित था। संयुत्त–निकाय के राहुल सुत्त एवं मज्झिम–निकाय के चूल–राहुलोवाद–सुतन्त का उपदेश भगवान ने यहीं दिया था। यहाँ अनेक भिक्षु–भिक्षुणियों ने ध्यान लगाया।

---

१. वही,

२. समन्तपासादिका भाग तीन, पृष्ठ ५७५;
पपंचसूचनी, भाग २, पृष्ठ १३४;

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१८;

महाजनपद एवं नगर

काशी-

बुद्ध–पूर्व युग में यह एक अत्यन्त शक्तिशाली एवं समृद्ध महाजनपद था। विनयपिटक में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए भगवान बुद्ध स्वयं कहते हैं – "भिक्षुओं! भूतकाल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक काशिराज था। वह आढय, महाधनी, महाभोगवान्, महासैन्ययुक्त, महावाहन युक्त, महाराज्य युक्त, भरे कोष्ठागार वाला था।"[1] प्रारम्भिक पालि साहित्य एवं विशेषकर जातक कथाओ मे अनेक काशी नरेशो उदय, धनंजय, धृतराष्ट्र, अंग, उग्रसेन आदि के नाम आते हैं। परन्तु एक नाम जो सहज ही सर्वत्र काशी नरेशों के लिए सर्वत्र मिलता है वह है 'ब्रह्मदत्त'। इसका कारण है कि यह काशी के राजाओं का कुल–नाम या उपाधि नाम था।[2]

काशी जनपद के पूर्व में मगध, पश्चिम में वंश तथा उत्तर में कोसल जनपद स्थित थे। इन तीनों जनपदों एवं अन्य पड़ोसी राज्यों के साथ काशी का निरंतर संघर्ष चला करता था। एक स्थल पर कहा गया है कि कोई ऐसा राजा नहीं था जो वाराणसी के राज्य की इच्छा न करता हो।[3] अंगुत्तर निकाय में कहा गया है कि यहाँ सात रत्नों की अधिकता होने के कारण चारों ओर के सात राज्यों के राजा उस पर अधिकार करने के लिए गिद्धदृष्टि लगाये रहते थे।[4] परन्तु कालान्तर में इसकी शक्ति क्षीण हो गयी और काशी राज्य कोसल का एक अंग मात्र (छठीं शती ई० पू० में) हो गया।

काशी अपने वस्त्र एवं चन्दन के लिए सुविख्यात थी। इसकी राजधानी वाराणसी की गणना बुद्धकालीन भारत के ६ महानगरों में की गई है।[5]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, १०/१/७,

२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पुष्ठ ३६५;

३. भोजाजानीय जातक, जातक संख्या २३;

४. अंगुत्तर–निकाय, भाग प्रथम, पृष्ठ २१३; भाग चौथा पृष्ठ २५२ २५६, २६०;

५. दीघ–निकाय, २/३; २/४;

कोशल -

यह भी एक प्रसिद्ध महाजनपद था। कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी जहाँ बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध का अधिकांश समय व्यतीत हुआ। कोसल ने अपनी शक्ति बढ़ाकर काशी जनपद को अपने अधिकार में कर लिया था।[१] कोशल नरेश महाकोशल ने अपनी पुत्री कोसला देवी का विवाह मगध नरेश बिम्बसार से किया था एवं काशी गॉव की आय उसके स्नान चूर्ण के व्यय के लिए दे दी गयी थी। आगे चलकर इसी काशी के प्रश्न पर कोसल नरेश प्रसेनजित् एवं मगधनरेश बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के मध्य भयंकर युद्ध भी हुआ था परन्तु अंततः दोनों पक्षों में समझौता हो गया एवं प्रसेनजित् की पुत्री वजिरा का विवाह मगध नरेश अजातशत्रु के साथ होना प्रतीत होता है। आन्तरिक मामलों में स्वतंत्र होते हुए शाक्य भी कोसल राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे।[२] दीघ--निकाय के अग्गञ्ञ–सुत्त कहा गया है कि शाक्य लोग कोसलराज प्रसेनजित् को नमन, अभिवादन, प्रत्युथान, हाथ जोड़ना एवं सत्कार करते है।[३]

कोसल राज्य के दक्षिण पूर्व में मगध और पश्चिम में पंचाल एवं कुरू जनपद था। इसके उत्तर–पूर्व में मल्ल और वज्जि राष्ट्र थे और दक्षिण में चेदि एवं वंस राष्ट्र। इनमे दो पड़ोसी मगध एवं वज्जि–संघ शक्तिशाली राज्य थे। कोसल राज प्रसेनजित् के राज्य में डाकू अंगुलिमाल ने बडा उपद्रव मचा रखा था। उसी का दमन करने जब प्रसेनजित् जा रहे थे तो भगवान् ने उनसे पूछा "महाराज! क्या तुम पर राजा मागध श्रेणिक बिम्बसार बिगडा है या वैशालिक लिच्छवि, या दूसरे विरोधी राजा?"[४]

कोसल के दो नगरो श्रावस्ती एवं साकेत की गणना तत्कालीन महानगरों में की जाती थी। श्रावस्ती बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार का महत्वपूर्ण केन्द्र था जहाँ भगवान बुद्ध ने अधिकांश समय जेतवनाराम में बिताया था या मृगारमाता के पूर्वाराम बिहार में।

---

१. दीघ–निकाय, १/१२;

२. सुत्त–निकाय, ३/१,

३. दीघ–निकाय, ३/४

४. मज्झिम–निकाय, अंगुलिमाल सुत्तन्त, २/४/६;

अंग-

अंगुत्तर–निकाय के सोलह महाजनपदों में एक अंग भी था।[1] कर्निंघम महोदय के अनुसार अंग जनपद का विस्तार वर्तमान विहार के भागलपुर एवं मुंगेर जिलों में प्रायः था।[2] अंग जनपद के पश्चिम में मगध एवं पूर्व में राजमहल की पहाडी थी। चम्पा नदी मगध एवं अंग की विभाजक रेखा थी। इसी चम्पा नदी के तट पर अग जनपद की राजधानी चम्पा नगरी स्थित थी।

अंग एवं मगध में निरन्तर चली आ रही शत्रुता का उल्लेख पालि साहित्य में मिलता है।[3] जिसमें सफलता अनिश्चित रही परन्तु बुद्ध काल तक मगध राज्य में अंग राज्य समाहित हो चुका था। राजगृह (मगध की राजधानी) को अंग एवं मगध देशों की आमदनी का मुख कहा गया है। दीघ निकाय के सोणदण्ड सुत्त में सोणदण्ड ब्राह्मण को मगधराज श्रेणिक बिम्बसार द्वारा दत्त, जनाकीर्ण, तृण–काष्ठ–उदक–धान्य सहित राज–भोग्य राज–दाय, वह्मदेय चम्पा का स्वामी कहा गया है।[4] अंग देश के चार मुख्य नगर–चम्पा, भद्दिय, अस्सपुर एवं आपण – थे। यहाँ बुद्ध कई बार आये।

मगध-

बुद्ध–पूर्व काल में मगध एक साधारण राज्य था परन्तु बुद्ध–युग में यह एक अत्यन्त शक्तिशाली जनपद बन गया। इस युग में बिम्बसार एवं अजातशत्रु मगध के दो शक्ति–सम्पन्न शासक हुए। जब भगवान राजगृह के लट्ठिवन में ठहरे हुए थे तो मगध नरेश बिम्बसार उनके दर्शन करने आया और बोला "भन्ते। पहिले कुमार अवस्था में मेरी पाँच अभिलाषायें थी जो अब पूरी हो गयी।

---

१. अंगुत्तर–निकाय

२ एन्शियन्ट ज्योग्रेफी आफ इण्डिया, पृष्ठ ५४६;

३. चम्पेय्य जातक, जातक संख्या ५०६,
विधुर पण्डित जतक,

४. दीघ–निकाय १/४;

१– यदि मुझे राज्य का अभिषेक मिलता।

२– मेरे राज्य में अहर्त यथार्थ बुद्ध आते

३– उन भगवान् की मैं सेवा करता

४– वह भगवान् मुझे धर्म–उपदेश करते

५– उन भगवान को मै जानता''[१] अब मेरी सभी अभिलाषायें पूर्ण हो गयी है। भिक्षु संघ सहित भगवान बुद्ध का उत्तम खाद्य पदार्थ से स्वागत कर उसने वेणुवन उद्यान का दान दिया। दीघ–निकाय कूटदन्त–सुत्त एवं जनवसभ सुत्त तथा विनयपिटक के चर्म–स्कंधक आदि से स्पष्ट है कि बिम्बसार के भगवान बुद्ध में अपार श्रद्धा थी।[२] बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने पिता की हत्या कर राज्य हस्तगत किया था प्रारम्भ मे वह गौतम बुद्ध के घोर विरोधी देवदत्त के प्रभाव में था किन्तु कालान्तर मे वह भी बुद्ध–भक्त हो गया। भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण होने पर उसने कुसीनारा के मल्लों के पास दूत भेजा – 'भगवान भी क्षत्रिय थे मैं भी क्षत्रिय हूँ; भगवान् के शरीरों (= अस्थियों) में मेरा भाग भी वाजिब है।' राजगृह में उसने भगवान् के अस्थि–अवशेषों पर स्तूप बनवाया एवं पूजा की।[३]

मगध की प्राचीन राजधानी गिरिव्रज या प्राचीन राजगृह थी। यह पॉच पहाड़ियों से घिरा नगर था। मज्झिम निकाय के इसिगिलि–सुत्तन्त में इन पाँच पहाड़ियों का नाम, इसिगिलि, वेभार, पण्डव, वेपुल्ल एवं गिज्झकूट है।[४] यहाँ भगवान बुद्ध अनेक बार आये।

बुद्ध काल में अंग राज्य मगध का एक हिस्सा बन गया। इसी प्रकार कोसल राज्य का काशी प्रदेश भी मगध के अधिकार में था। (विस्तृत वर्णन अंग एवं कोसल जनपदों के प्रसंग में किया गया है।) इस प्रकार मगध की शक्ति एवं सीमा इस काल में काफी बढ़ गई थी। विनयपिटक में मगधराज सेनिय बिम्बसार को अस्सी हजार गाँवो का स्वामी कहा गया है।[५]

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१७;

२. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/१
दीघ–निकाय, १/५;
दीघ–निकाय, २/५;

३. दीघ–निकाय २/३;

४. मज्झिम–निकाय, इसिगिलि सुत्तन्त, ३/२/६;

५. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/१;

वंस -

इसके उत्तर में कोसल राज्य, दक्षिण में चेदि, पश्चिम एवं उत्तर–पश्चिम में क्रमशः सूरसेन एवं पंचाल जनपद एवं पूर्व मे काशी जनपद था। महात्मा बुद्ध के समय का वहाँ का शासक उदयन था। उसने पड़ोसी देशोंसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी स्थिति को सुदृढ करने का प्रयत्न किया। उसने अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से विवाह किया। पालि साहित्य से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में उसने बौद्धधर्मानुयायियों के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं किया था परन्तु कालान्तर में सम्भवतः वह इसमें कुछ श्रद्धा रखने लगा था।[१] परन्तु उदयन का पुत्र बोधि राजकुमार बौद्ध धर्म के प्रति अनुरक्त था। बोधिराजकुमार ने सुंसुमारगिरि में कोकनद नामक प्रासाद का निर्माण कराया एवं उसमें सफेद धुस्सों को सीढ़े के नीचे तक बिछवा कर, भगवान से उस पर चलने की याचना की।[२] अन्य बौद्ध ग्रन्थों विनयपिटक,[३] धोनसाख जातक एवं अंगुत्तर– निकाय में भी इसका वर्णन आता है।

वश देश की राजधानी की कौशाम्बी थी जो यमुना के तट पर स्थित थी।[४] इसकी गणना बुद्धकालीन ६ महानगरों में की गई थी।[५]

वज्जि संघ -

बुद्ध काल में यह एक शक्तिशाली गणतन्त्र राज्य था। यह राज्य गंगा के उत्तर में नेपाल की तराई तक फैला था। वज्जिसंघ में आठ गणतंत्र राज्य सम्मिलित माने जाते थे जिनमें वज्जि, लिच्छवि, विदेह एवं ज्ञात्रिक प्रमुख थे। इन आठ गणतन्त्र राज्यों में विदेह वज्जि एवं लिच्छवि के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें मिलती हैं।

---

१. मांतग जातक

संयुत्त निकाय, भरद्वाज सुत्त;

२. मज्झिम निकाय, बोधिराजकुनार सुत्तन्त, हि० अ० पृ० ३४४

३. विनयपिटक

४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २६८

५. दीघ–निकाय २/३; २/४

लिच्छवि एवं वज्जि गणतंत्रो के विषय में पृथक रूप से अत्यल्प सूचनाएं मिलती हैं। प्रायः दोनों की अभिन्नता ही पॉलि साहित्य में वर्णित की गई है। वैशाली न केवल लिच्छवियों की राजधानी थी वरन् यह सम्पूर्ण वज्जि संघ की राजधानी थी जिसका समीकरण विहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ से किया जाता है।

दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण–सुत्त में वज्जियों के कानून–नियमों की प्रशंसा करते हुए भगवान बुद्ध कहते हैं कि "जब तक ब्राह्मण (वर्षकार)! यह सात अपरि–हाणीय धर्म वज्जियों में रहेंगे; इन सात अपरिहारणीय– धर्मों में वज्जी दिखलाई पड़ेगें, (तब तक) ब्राह्मण! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नही।"[१] वज्जियों का अपने शक्तिशाली पडोसी मगध के साथ कटुतापूर्ण सम्बन्ध थे। वज्जियों के उद्योग पूर्ण संयमी जीवन पर भगवान् बुद्ध को बड़ा भरोसा था परन्तु उनकी जीवन शैली जिसे दिशा में जाती दिखायी पड़ रही थी उससे उनमें विनाश के बीज भी उन्हे दिखाई दे रहे थे।[२]

मल्ल-

बुद्धकालीन गणतन्त्रों में मल्लों की महत्वपूर्ण स्थिति थी। मल्ल के पूर्व या दक्षिण पूर्व मे वज्जि गणराज्य था। पश्चिमोत्तर में शाक्य जनपद, दक्षिण में मगध एवं पश्चिम में कोसल राज्य था।[३] मल्लों की दो शाखायें थी (१) कुसीनारा की मल्ल शाखा (२) पावा की मल्ल शाखा भगवान बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में दोनों मल्ल राज्यों में गये एवं कुसिनारा में उनका महापरिनिर्वाण हुआ था।

---

१. दीघ निकाय, २/३,

२. सयुत्त निकाय, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३०८;

३. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३१६;

कुसिनारा -

मल्ल गणतन्त्र की एक शाखा की राजधानी कुसिनारा थी। कर्निघम ने इसकी पहचान वर्तमान गोरखपुर के कसया नामक स्थान से की है।[1] कसया गोरखपुर से बत्तीस मील उत्तर मे स्थित है। भगवान् बुद्ध ने इस नगर को अपने महापरिनिर्वाण के लिए चुना था। इस पर आनन्द ने आपत्ति दिखाते हुए कहा था कि "भन्ते! मत इस क्षुद्र नगले (= नगरक) में, जंगली नगले में, शाखा–नगरक में परिनिर्वाण को प्राप्त होवें।" इस पर भगवान् बुद्ध ने कुसिनारा की पूर्व समृद्धि को याद दिलाते हुए कहा था "आनन्द! यह कुसीनारा राजा महासुदर्शन की कुशावती नामक राजधानी थी। कुशावती राजधानी समृद्धि, स्फीत, बहुजना, जनाकीर्ण तथा सुभिक्ष थी। जैसे कि आनन्द! देवताओं की आलकमंदा नामक राजधानी समृद्ध, स्फीत, बहुजना, यक्ष–आकीर्ण और सुभिक्ष है; इसी प्रकार आनन्द कुशावती राजधानी दिन–रात, हस्ति–शब्द, अश्व–शब्द, रक्ष–शब्द, भेरी–शब्द, मृदंग–शब्द, वीणा–शब्द, गीत–शब्द, शंख–शब्द, ताल–शब्द, खाइये–पीजिए– इन दस शब्दों से शून्य न होती थी।"[2] भगवान् ने यहाँ कई बार यात्रा की। यहाँ के मल्ल भगवान् बुद्ध के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे अपने नगर में भगवान् का आगमन सुनकर उन्होंने नियम निर्धारित किया – "जो भगवान् की आगवानी को नहीं जाये उसको पाँच सौ दण्ड।"[3]

हिरण्यवती नदी के तट पर, मल्लों के उपवत्तन नामक शालवन में भगवान् महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इस कारण यह स्थल बौद्धों के लिए एक तीर्थ बन गया।[4] मल्लों ने भगवान् का दाह संस्कार मुकुट–वंधन[5] नामक चैत्य (= देवस्थान) पर किया।

---

१. आर्केलोजिकल सर्वे इण्डिया, १८६१–६२, पृष्ठ ६६–८३

२. दीघ–निकाय, २/३;

३. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६७;

४. दीघ–निकाय, २/३;

५. वर्तमान रामाभार, कसया, जिला गोरखपुर।

पावा -

यह मल्लों की दूसरी शाखा की राजधानी थी। इसका समीकरण कर्निघम ने गोरखपुर के पडरौना गॉव से किया है। विमल चरण लाहा एवं भरत सिंह उपाध्याय भी इस मत से सहमत है।[१] कुछ विद्वानों ने पावा का समीकरण कसया से प्रायः दक्षिण–पूर्व में स्थित फाजिलनगर .(फाजिलपुर) के टीलों से, विशेषतः सठियॉव डीह से पावा को मिलाया।[२] परन्तु ये मतः प्राय. अस्वीकृत है। उदान से पता लगता है कि भगवान बुद्ध पावा गये और वहॉ अजकलापक या अजकपालिय चैत्य में निवास किया।[३] अपने महापरिनिर्वाण के पूर्व भी भगवान् पावा आये। जहाँ चुन्द कुर्मारपुत्र (सोनार) ने उत्तर खाद्य पदार्थ एवं शूकर मार्दव (= सूकर–मद्दव) से भगवान् सहित भिक्षु संघ का स्वागत किया। ये भगवान का अन्तिम भोजन था। इसके वाद भगवान को बड़ी पीड़ादायक, कडी बीमारी उत्पन्न हो गयी। इसी अवस्था में वे कुसिनारा की ओर चल पडे। आलारकलाम, कलाम का शिष्य पुक्कुस मल्लपुत्र ने भगवान बुद्ध एवं आनन्द को मार्ग में, इंगुर वर्ण चमकते हुए दुशाले को भेट किया।[४]

.रामग्राम-

कोलिय गणराज्य की राजधानी रामगाम थी। वस्तुतः कोलियों की दो शाखाये प्रतीत होती है। प्रथम देवदह के कोलिय एवं द्वितीय रामगाम के कोलिय। परन्तु देवदह कोलिय शाक्यों को अधीन थी। कोलिय क्षत्रिय जाति के ये इसी आधार पर रामगाम के कोलियो ने भगवान के अस्थि–अवशेषों की मॉग की और उस पर स्तूप निर्माण किया।[५]

सुंमगलविलासिनी से स्पष्ट होता है कि ये शाक्यों के रक्त–सम्बन्धी थे एवं दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध थे। ये शाक्यों के पड़ोसी थे एवं रोहिणी नदी दोनों गणतन्त्रों की विभाजक

---

१. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ ८२, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पुष्ठ, ३२२;

२. भिक्षु धर्मरक्षित, संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ ४;

३. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ८;

४. दीघ–निकाय, २/३,

५. दीघ–निकाय, २/३;

रेखा थी। कुणाल जातक से स्पष्ट है दोनों गणतन्त्र इन नदी के जल को प्रयोग सिंचाई के लिए करते थे। एक बार पानी को लेकर दोनों पक्षों मे भीषण युद्ध होने वाला था, परन्तु महात्मा बुद्ध के हस्तक्षेप से किसी प्रकार संघर्ष टल गया।[1] रामगाम की पहचान सन्देहास्पद है कर्निघम ने कपिलवस्तु एवं कुशीनगर के बीच स्थित आधुनिक देवकाली गॉव से मिलाया है।[2]

विमल चरण लाहा एवं कारलायल ने वर्तमान रामपुर देवरिया से रामग्राम को स्वीकृत किया है।[3] डॉ० राजबली पाण्डेय गोरखपुर के रामगढ़ ताल को रामग्राम से समीकृत करते है।[4]

पिप्फलिवन-

यह एक गणतन्त्र राज्य था। मोरियो की राजधानी पिप्फलिवन थी। दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में उल्लेख है कि पिप्फलिवन के मोरियों न जब सुना कि भगवान् बुद्ध का कुसीनारा में परिनिर्वाण हो गया है तो ये कुसीनारा पहुँचे और कहा 'हम भी क्षत्रिय हैं एवं भगवान भी क्षत्रिय हैं। इसलिए भगवान् के शरीरों (=अस्थियों) में मेरा भी हक है' परन्तु इनके पहुँचने के पूर्व ही भगवान् के अस्थि–अवशेष बाँटे जा चुके थे। अतः वे वहाँ से कोयला (= अंगार) ही प्राप्त कर सके एवं उन्होंने उन अंगारो पर स्तूप की रचना की।[5]

मोरियो की राजधानी पिप्फलिवन की पहचान के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। कर्लायल ने पिप्फलिवन की पहचान गोरखपुर जिले के राजधानी या उपधौलिया के डीह से की है जो गुर्रा नदी के तट पर स्थित है। भरतसिंह उपाध्याय वर्तमान पिपरहवाँ गाँव को बुद्धकालीन पिप्फलिवन मानते है जो अम्मिनदेई से १२ मील दक्षिण–पश्चिम एवं तिलौराकोट से १० मील दक्षिण--पूर्व में है।[6]

---

१. कुणाल जातक,

२. ऐन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑव इण्डिया, पृ०४८२--४८५;

३. हिस्टारिकल ज्योग्रेफी आफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ११६;
आर्केलोजीकल सर्वे ऑव इन्डिया, भाग २२, वर्ष १६७५;

४. गोरखपुर जनपद और उसकी क्षत्रिय जातियों का इतिहास, पृष्ठ ७०;

५ दीघ--निकाय, २/३;

६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३१५,

मोरियो के विषय मे अधिकतर सूचनाये उत्तर कालीन साक्ष्यों से ही मिलती है। महावंश टीका से पता चलता है कि विडूडभ जब शाक्यों का नाश कर रहा था तो भयभीत होकर शाक्यों ने हिमालय प्रदेश की शरण ली। यहाँ पीपल वृक्षों के एक वन में नगर वसा कर रहने लगे। इसी पीपल वृक्षों की अधिकता के कारण उनके प्रदेश का नाम "पिप्फलिवन" पड़ा। इस प्रसगानुसार मोरिय, कपिलवस्तु के शाक्यों की ही एक शाखा हुए। मोरिय नामा के सम्बन्ध में भी अनुश्रुतिया मिलती है उनमे एक है जिस प्रदेश में "मोरिय" लोग रहते थे, वहाँ मोरो की अधिकता थी इसलिए उनका यह नाम पड़ा दूसरी अनुश्रुति यह है कि "मोरियो" के मकान मोर की गर्दन के समान नीले रंग के पत्थरों से बने थे इसलिए उनका यह नाम पड़ा।

अल्लकप्प -

अल्लकप्प प्रदेश बुलियों के गणतन्त्र राज्य की राजधानी थी। ये क्षत्रिय कुल के थे एवं बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् इसी आधार पर उन्होंने अस्थि–अवशेषों पर दावा किया एवं उसे प्राप्त कर, उस (अस्थि–अवशेष) पर स्तूप का निर्माण किया।[1] धम्मपदट्ठकथा से हमें पता चलता है कि अल्लकप्प प्रदेश का विस्तार केवल दस योजन तक ही था।[2]

सुंसुमारगिरि-

भग्ग लोगो का गणराज्य की राजधानी सुसुमारगिरि थी। अभिधानप्पदीपिका में इसकी गणना बुद्धकालीन भारत के २० नगरों में की गई है। सुंसुमारगिरि भेसकलावन नामक मृगोद्यान था यहाँ भी ऋषिपतन मृगदाव की भाँति मृगों को अभय दिया गया था।[3] यहाँ भगवान बुद्ध कई बार आये। संयुक्त–निकाय में नकुलपिता सुत्त को उपदेश यही दिया गया था।[4]

बोधिराजकुमार ने सुंसुमागिरि कोकनद प्रसाद का निर्माण कराया था। इस प्रसाद में सफेद धुस्सों को ऊपर से नीचे, सीढ़ पर, विछवा कर भगवान बुद्ध को उस पर चलने का आग्रह

---

१. दीघ–निकाय, २/३;

२. भाग एक, पृष्ठ १६१;

३. समन्तपासादिका, भाग चार, पृष्ठ ८६७; दिव्यादान, पृष्ठ ८६७; दिव्यादान, पृष्ठ १८२;

४. संयुत्त–निकाय हि० अ० पृष्ठ ३२१;

किया परन्तु भगवान के अस्वीकार करने पर उसे उठवा लिया एवं बुद्धसहित भोज्य पदार्थ से संतर्पित किया, संन्तुष्ट किया।[1]

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी ने भर्ग राज्य को विन्ध्य प्रदेश में यमुना और शोण नदियों के बीच स्थित बताया है।[2] डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का कहना है कि सुंसुमारगिरि को आधुनिक चुनार एवं उसके आसपास की पहाडियों से समीकृत करना चाहिए।[3]

केसपुत्त-

केसपुत्त कलामों की राजधानी थी। इसके बारे में अत्यल्प सूचना मिलती है। अंगुत्तर निकाय के भरण्डु सुत्त से ज्ञात होता है कि जब भगवान् कपिलवस्तु गये तो वो वहॉ भरण्डु कलाम के आश्रम में रुके थे। भगवान् केसपुत्त भी गये थे जहॉ उन्होंने अंगुत्तर निकाय के केसपुत्तिय सुत्त का उपदेश दिया था। भगवान् के पूर्व गुरू आलार कालाम, कालाम जाति के ही थे।[4]

कपिलवस्तु

शाक्य गणतन्त्र की राजधानी कपिलवस्तु थी। प्रारम्भिक पालि साहित्य में शाक्य सूर्यवंशी क्षत्रिय तथा इक्ष्वाकु–कुल के कहे गये है। भगवान् बुद्ध एक बार राजगृह के पाण्डव पर्वत पर बिहार कर रहे थे। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मगध नरेश बिम्बसार उनके दर्शन के लिए आया एवं उनसे उनकी जाति पूछने पर भगवान् ने उत्तर दिया "हिमालय की तराई के एक जनपद में कोसल देसवासी धन तथा पराक्रम से युक्त एक ऋजु राजा है। वे गोत्र के सूर्यवंशी है और शाक्य जाति के है।"[5]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/२/७; मज्झिम निकाय,
अंगुत्तर निकाय, निकाय, भाग २, पृष्ठ ६१;
अंगुत्तर निकाय, निकाय, भाग ६, पृष्ठ ८५;

२. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ १६३;

३. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३३६;

४. मज्झिम–निकाय, १/३/६ हि० अ० पृष्ठ १०४;

५. उजु जनपदो राजा, हितवन्तस्सपस्सतो। धनविरियेन सम्पन्नो, कोसलेसु निकेतिनो।।
आदिच्चा नाम गोत्तेन, साकिया नाम जातिया। तम्हा कुला पब्बजितो' म्हि (राज) न कामे अभिपत्थय।।

अन्यत्र भी भगवान् बुद्ध 'आदित्य बन्धु (= सूर्यवंशी) कहे गये है।[1] सुत्त–निपात की वत्थुगाथा[2] एव दीघ निकाय अम्बट्ठ सुत्त[3] में इक्ष्वाकु को शाक्यो का पूर्वज कहा गया है। सुमंगल विलासीनी एवं महावस्तु से भी इसकी पुष्टि होती है। इक्ष्वाकु वंशजो द्वारा कपिल ऋषि के आश्रम के समीप ही नगर वसाने के कारण उनका नगर "कपिलवत्थु" (= कपिलवस्तु) 'कहलाया।

भगवान् बुद्ध का वाल्यकाल तो कपिलवस्तु में बीता ही था। ज्ञान प्राप्ति के वाद भी वे कई बार यहॉ आये। न्यग्रोध नामक शाक्य ने एक बिहार बुद्ध संघ को समर्पित किया था जिसे 'न्यग्रोधाराम' कहा जाता था। इसी समय नन्द एवं राहुल की प्रव्रज्या हुई थी। भगवान् बुद्ध के ज्ञान के पाँचवे वर्ष राजा शुद्धोदन की मृत्यु हो गयी। इसी समय शाक्यों एवं कोलियों में रोहणी नदी के जल को लेकर विवाद हुआ। भगवान् की मध्यस्थता से युद्ध टल गया। यह बुद्धत्व प्राप्ति के वाद भगवान् की दूसरी कपिलवस्तु यात्रा थी।[4] इसके बाद भी भगवान् कपिलवस्तु आये।

कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में भगवान् ने अनेक सुत्तों का उपदेश दिया। मज्झिम निकाय चूलदुक्खक्खन्ध–सुत्तन्त, मधुपिण्डिक–सुत्तन्त, सेख सुत्तन्त, महा सुञ्ञता–सुत्तन्त एवं संयुत्त–निकाय के अनेक सुत्त आदि का उपदेश इसी न्यग्रोधाराम बिहार में दिया गया।

कपिलवस्तु महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग पर स्थित थी। यह श्रावस्ती से राजगृह जाने वाले मार्ग में पड़ती थी। भिक्षुणी महाप्रजापति गौतमी, तिस्सा, मित्ता, अभिरूपा, नन्दा तथा भिक्षु अनुरूद्ध, भद्दिय, राहुल, काल उदायि, नन्द, महानाम आदि कपिलवस्तु से ही सम्बन्धित थे। कपिलवस्तु की पहचान सन्देहास्पद रही है परन्तु भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के डा० के० एम० लाल द्वारा किये गये आधुनिक कार्यों से स्पष्ट है कि इसकी पहचान आधुनिक पिपरहवा

---

१. सुत्तनिपात, १/३;३/६ दीघ–निकाय, २/८;

२. सुत्त निपात, ५/१;

३. दीघ–निकाय, १/३;

६. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० २६१।

से करनी चाहिए जो उत्तर प्रदेश के सिद्धार्थनगर जिले के उत्तर (में २२ किलोमीटर की दूरी पर) स्थित है। यहाँ दो प्रकार की मुहरे प्राप्त हुई है। प्रथम प्रकार मुहर पर 'देवपुत्रबिहारे कपिलवस्तुस, भिक्खु–सघस' तथा दूसरे प्रकार में 'महाकपिलवस्तु–भिक्खुसंघान' लेख प्राप्त होते है।[१]

साकेत-

साकेत कोसल राज्य का श्रावस्ती के बाद दूसरा प्रधान नगर था। कही–कही पालि ग्रन्थों में ऐसे विवरण प्राप्त होते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि साकेत एक अति प्राचीन नगर था। बौद्ध सस्कृत ग्रन्थ महावस्तु में साकेत से निर्वासित शाक्यों के पूर्वजो द्वारा कपिल ऋषि के आश्रम के समीप कपिलवस्तु की स्थापना की बात कही गयी है। इसी प्रकार एक जातक कथा में साकेत को कोसल राज्य की राजधानी कहा गया है।[२] परन्तु दूसरी ओर धम्मपदट्ठकथा से स्पष्ट होाता है कि यह अपेक्षाकृत कालान्तर में बसायी गयी थी। कोसल राज्य में कोई बडा श्रेष्ठि नही था। कोसल नरेश प्रसेन्जित के कहने पर मगध नरेश बिम्बसार ने अपने राज्य के धनंजय श्रेष्ठी को कोसल भेजने का निश्चय किया। सपरिवार आते हुए श्रेष्ठी ने सांयकाल इसी राज्य की सीमा पर पड़ाव डाला, एवं उस स्थान की दूरी श्रावस्ती से सात योजन थी। यही स्थान 'साकेत' कहलाया। मज्झिम निकाय के रथविनीत सुतन्त से स्पष्ट है कि सात घोड़ो के परिवर्तन से श्रावस्ती पहुँचा जाता था।[३] विनयपिटक के महावग्ग में श्रावस्ती से साकेत की दूरी छः योजन बतायी गयी है।[४]

दीघ–निकाय में आनन्द भगवान् से कहते है। "भन्ते! – – – – – – – – और भी महानगर है; जैसे कि चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी। वहाँ भगवान् परिनिर्वाण करें जहाँ बहुत से क्षत्रिय महाशाल (= महाधनी), ब्राह्मण–महाशाल गृहपति–महाशाल तथागत के भक्त हैं; वह तथागत के शरीर की पूजा करगें।"[५] स्पष्ट है कि यह एक समृद्ध महानगरी थी।

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृष्ठ–१४४;

२. नन्दियमिगराज जातक, जातक संख्या ३८५;

३. मज्झिम निकाय, रथ विनीत सुतन्त,

४. विनयपिटक, महावग्ग ७/१/१;

५. दीघ निकाय, २/३; २/४;

प्रतीत होता है साकेत से श्रावस्ती जाने वाले मार्ग पर चोर–डाकुओं का संक्रमण रहता था। जिन्होंने इस मार्ग से जाने वाले भिक्षु एव भिक्षुणियों को लूटा एवं मार डाला।[१] राजगृह का सुप्रसिद्ध वैद्य जीवन विद्याध्ययन के बाद तक्षशिला से वापस राजगृह लौटते हुए साकेत की श्रेष्ठि–भार्या के सात वर्ष पुराने सिर दर्द को ठीक कर दिया। इस प्रथम चिकित्सा कार्य के बदले उसे सोलह हजार (कार्षापण), दास, दासी एवं एक अश्वरथ प्राप्त हुआ।[२] साकेत उस महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग का भी हिस्सा था जो राजगृह से दक्षिण को प्रतिष्ठान तक जाता था।[३]

साकेत के वन अंजनवन मृगदाव में भगवान् कई बार आये एवं उपदेश दिया। (वनों के विवरण मे विशेष वर्णन किया गया है)

बुद्धकालीन साकेत की पहचान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा० मललसेकर[४] एवं डॉ० नलिनाक्ष दत्त एवं श्री कृष्णदत्त वाजपेयी[५] ने साकेत को सुजानकोट के खण्डहरों से, जो सई नदी के किनारे उन्नाव जिले मे स्थित है, से समीकृत किया है। राइस डेविड्स महोदय अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इण्डिया' में कहते है "बहुधा साकेत एवं अयोध्या एक ही समझा जाता है। सम्भवतः ये दोनों नगर एक दूसरे से उसी तरह लगे रहे हों जिस प्रकार लन्दन और वेस्टमिन्स्टर।"[६] कर्निघम[७] एवं डॉ० भरतसिंह उपध्याय "आधुनिक अयोध्या का तादाम्य प्राचीन साकेत से करते हैं।[८]

गया-

मज्झिम–निकाय में एक तीर्थ स्थन के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। बोधि वृक्ष से गया तीर्थ तीन गावुत (करीब ६ मील) की दूरी पर था एवं वाराणसी से इसकी दूरी १५ योजन

---

१ विनयपिटक, महावग्ग १/३/१४,

२ वही, ८/१/१;

३. सुत्त–निपात, ५/१,

४. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, भाग२, पृष्ठ १०८६;

५. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ ७; १२, पद संकेत ६;

६. बौद्ध भारत, हि० अ०, ध्रुवनाथ चतुर्वेद, पृष्ठ ३२;

७. ऐन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑफ इन्डिया, पृष्ठ ४६१;

८. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २५२;

बतायी गयी है।[1] ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवान् ने जब अपने पहले के मित्रों (पच्चवर्गीय भिक्षुओ) को धर्मोपदेश देनेका निर्णय किया तो वे वनारस की ओर चल पड़े। संशयग्रस्त उपक आजीवक भगवान् से बोधगया (= बोधि) और गया के मध्य इसी मार्ग नें जाते हुए मिला।[2] विनयपिटक के आदीप्त पर्याय का उपदेश गया के गयासीस पर्वत पर दिया था।[3]

लुम्बिनी-

बुद्ध काल में एक जनपद के रूप में इसकी ख्याति थी। यही एक शाल वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ।[4] इसलिए बौद्ध धर्म के श्रद्धालुओं के लिए यह एक महत्वपूर्ण तीर्थ–स्थान है।[5] इस स्थान का वर्तमान समीकरण पूर्वोत्तर रेलवे के नौतनवा स्टेशन से करीब २० मील पश्चिम मे, सम्मनदेई नामक स्थान से किया गया है। यहॉ अशोक का एक स्तम्भ लेख प्राप्त हुआ है जिसमें स्पष्ट रूप से लिखा है यहाँ भगवान उत्पन्न हुए थे, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का आठवाँ भाग, जो शुल्क (बलि) के रूप में लिया जाता था, उसे छोड दिया गया''।

उरूबेला-

यह मगध राज्य में नेंरंजवा नदी के तट पर स्थित था। भगवान् ने यहीं कठोर तपस्या की थी। उरुबेला स्थित बोधि–वृक्ष के नीचे भी उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। मज्झिम निकाय में तपस्या के लिए इस स्थान को उपयुक्त बताते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं ''सो मैं भिक्षुओं! किंकुशल–गवेषी शांति के श्रेष्ठ पद को खोजते, मगध में क्रमशः चारिका (= रामत) करते जहाँ उरुबेला (का एक निगम) सेनानी निगम था वहाँ पहुँचा। वहाँ मैंने एक रमणीय = प्रासादिक भूमि भाग में, बन खंड में एक नदी को बहते देखा जिसका घाट, रमणीय और श्वेत था। चारों ओर फिरने के लिए गॉव थे। – – – – परमार्थ उद्योगी कुलपुत्र के लिये ध्यान–रत होने के

---

१. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २१८;

२. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६;

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६;

४. जातक, प्रथम खण्ड, हि० अ० पृष्ठ १२०;

५. दीघ–निकाय, २/३;

वास्ते यह बहुत उपयोगी है तब मैं भिक्षुओं यही ध्यान योग्य स्थान है (सोच) वहाँ बैठ गया।"[1] उरुबेला में जिस वोधि–वृक्ष के नीचे भगवान् को ज्ञान की प्राप्ति हुई, वह आज भी बुद्ध–गया में १०० फुट ऊँचे बोधि वृक्ष के रूप में विद्यमान है।[2] उरुबेला आधुनिक गया नगर के ६ मील दक्षिण में स्थिति है।

कौशाम्बी-

वंस देश की राजधानी कौशाम्बी थी जो यमुना नदी के वायें तट पर स्थित थी। जिसका समीकरण इलाहाबाद के समीप स्थिति आधुनिक कोसम गॉव से किया जाता है।[3] कौशाम्बी तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक नगरी थी एवं बुद्ध कालीन ६ महानगरो में इसकी गणना की गई है।[4] यहॉ से विभिन्न दिशाओं को थलीय एवं जलीय मार्ग जाते थे। कौशाम्बी श्रावस्ती से प्रतिष्ठान जाने वाले दक्षिणापथ मार्ग में स्थित थी। उत्तर की ओर कौशाम्बी साकेत एवं श्रावस्ती से सड़क द्वारा जुड़ी हुई थी।[5]

कौशाम्बी राजगृह से भी एक व्यापारिक मार्ग द्वारा जुड़ी हुई थी। सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक को उज्जयिनी से राजगृह लौटते हुए हम मार्ग में कौशाम्बी में कलेवा करते देखते हैं।[6] कौशाम्बी से यमुना नदी के द्वारा प्रयाग प्रतिष्ठान तक और गंगा नदी द्वारा वाराणसी, पाटिलपुत्र एवं ताम्रलिप्ति तक आवागमन होता था।

---

१. मज्झिम निकाय १/३/६;
   वही – १/४/६
   वही – २/४/५
   जातक, प्रथम खण्ड, हि० अ० पृष्ठ १४८ और आगे।
२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २११;
३. प्राचीन भारत का ऐतिहासकि भूगोल, पृष्ठ ८३;
   बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २७४;
४. दीघ–निकाय, २/३; २/४;
५. सुत्त–निपात, ५/१
६. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१;

बुद्ध के जीवन--काल में एवं उसके पश्चात् भी यह बौद्ध धर्म से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रही है। यहाँ तीन प्रसिद्ध सेठ घोषित, कुक्कट एवं पावारिक ने क्रमशः घोषिताराम, कुक्कुटाराम एवं पावारिकम्बन बनवाकर भिक्षु संघ को दान दिया था। भगवान बुद्ध अनेकानेक वार इस नगरी मे आये। यहाँ निवास करते हुए भिक्षुओं के कलह को शान्त करने हेतु कोसम्बिय–सुतन्त का उपदेश दिया था। विनयपिटक के उत्क्षेवणीय कर्म सम्बन्धी नियमों का विधान यही पर किया गया।[१]

अन्य अनेक अवसरों पर भी हम भगवान को कौशाम्बी में वास करते हुए देखते हैं।

चम्पा-

चम्पा नदी के तट पर बसी हुई यह नगरी अंग जनपद की राजधानी थी जिसकी गणना बुद्धकालीन छः महानगरों में की जाती थी। दीघ–निकाय के अनुसार रेणु नामक राजा के योग्य मन्त्री महागोविन्द ने इसकी स्थापना की थी।[२] कनिंघम महोदय ने चम्पा नगरी की पहचान आधुनिक चम्पापुर एवं चम्पानगर नामक दो गाँवों से की है, जो भागलपुर के २४ मील पूर्व में स्थित है।[३] व्यापारिक दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण नगरी थी। जातकों से पता लगता है कि चम्पा के व्यापारी सुवर्णभूमि तक व्यापार के लिए जाते थे।[४] चम्पा के निवासियों ने ही दक्षिण–पूर्वी एशिया में चम्पा नामक हिन्दु राज्य की स्थापना की थी।[५] इसे चंपा नगर, चंपामालिनी, चंपावती, चंपापुरी और चंपा आदि विविध नामों से पुकारा जाता था।[६] महाजनक जातक में इसको काल चम्पा भी कहा गया है।[७]

भगवान बुद्ध एवं उनके भिक्षु–भिक्षुणियों से इस नगरी का घनिष्ट सम्बद्ध रहा है। यहाँ विद्यमान गग्गरा पुष्करिणी ध्यान–मनन योग्य एक उपयुक्त स्थान थी। इसके तट पर चम्पा वृक्षों का विशाल उद्यान था जिसकी महक से वातावरण सुगन्धित रहता था।[८] इसके तट पर भगवान बुद्ध ने दीघ–निकाय के सोणदण्ड–सुत्त, मज्झिम निकाय के कन्दरक–सुत्तन्त एवं

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, १०/१/१;
२. दीघ–निकाय २/६;
३. ऐन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ५४७;
४. जातक, जिल्द छठी, पृष्ठ ६४;
५. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ २५;
६. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृष्ठ ३६१;
७. महाजनक जातक,
८. सुमंगलविलासिनी, भाग एक, पृष्ठ २७६;

अगुत्तर–निकाय के कई सुत्तो आदि का उपदेश दिया। विनय पिटक के चांपेय–स्कंधक के विधान इसी पुष्करिणी के तीर पर उपदिष्ट किये गये थे।[1] भगवान बुद्ध के कुछ शिष्यो सोण कोटिविश, जम्बगामक, नन्दक एवं भरत की जन्मभूमि चम्पा ही थी।[2]

श्रावस्ती-

कोसल की राजधनी श्रावस्ती की गणना तत्कालीन छे प्रमुख महानगरो मे की गई है।[3] कर्निघम महोदय ने श्रावस्ती की पहचान आधुनिक सहेट–महट के रूप में की है जिनमे से सहेट गोंडा में एवं महेट वहराइच जिले में है महेट के क्षेत्र को बुद्धकालीन श्रावस्ती और सहेट के क्षेत्र को जेतवन माना गया है।[4]

भगवान बुद्ध के जीवन काल एवं श्रावस्ती में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहॉ अनेक प्रसिद्ध आराम थे जहॉ भगवान् ने २१ से ४५वें वर्षावास व्यतीत किये एवं प्रथम चार निकायों के ८७१ सुत्तो का उपदेश श्रावस्ती में ही दिया।[5] यहॉ का जेतवनाराम एवं मिगारमाता पूर्वाराम अधिक महत्वपूर्ण थे। इनमें जेतवनाराम का परिचय वनों के प्रसंग में दिया जायेगा। मिगारमाता पूर्वाराम का निर्माण नगर के धनिक सेठ मिगार (मृगधर) की पुत्रवधू विशाखा ने कराया था। मिगार पहले आजीवकों का भक्त था पर कालान्तर में विशाखा के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म में उसकी भी आस्था उत्पन्न हो गई।[6]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, १
२. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ, ३५३;
३ दीघ–निकाय, २/३; २/४,
४. ऐन्शियन्ट ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ४६६–४७४;
५. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २३७;
६. प्राचीन भारत में नगर एव नगर जीवन, पृष्ठ ११६,

इन दो बिहारों के अतिरिक्त श्रावस्ती में अन्य बिहारों राजकाराम (केवल भिक्षुणियों के लिए), रम्भकाराम, मल्लिकाराम आदि विहार विद्यमान थे।

. श्रावस्ती तत्कालीन एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थी। श्रावस्ती से राजगृह जाने वाला मार्ग एक प्रमुख व्यापारिक मार्ग था। यह मार्ग उत्तर से दक्षिणपूर्व को जाने वाला मार्ग कहलाता है। इस मार्ग में पडने वाले प्रमुख स्थान श्रावस्ती सेतया, कपिलवस्तु, कुसिनारा, पावा, भोगनगर, जम्बगाम, अम्बगाम, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, नदिका, कोटिगाम, पाटलिपुत्र, नालन्दा एवं राजगृह थे। प्रसिद्ध दक्षिणापथ मार्ग श्रावस्ती से प्रारम्भ होकर साकेत कौशाम्बी, वनसव्हय (वनसाह्वय) विदिशा, गोनद्ध, उज्जैनी, माहिष्मती, प्रतिष्ठान तक जाता था।

वाराणसी-

वाराणसी तत्कालीन भारत की एक सुप्रसिद्ध नगरी थी जो काशी महाजनपद की राजधानी थी। जातकों में इसे सुरुद्धन,[1] सुदस्सन,[2] बह्मवड्ढन,[3] पुप्फवती,[4] रम्मनगर[5] एवं मोलनी[6] आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है। मद्दसाल जातक एवं धोनसाख जातक से स्पष्ट है यहॉ के राजा अन्य राजाओ से अग्रणी समझे जाते थे। वरुणा तथा अस्सी नदियो के मध्य स्थित होने के कारण यह नगर वाराणसी कहा जाता है।[7]

---

१. जातक, छठा, पृष्ठ १०७;

२ जातक, पॉचवा, पृष्ठ १७७;

३. जातक, चौथा, पृष्ठ ११६,

४. जातक, छठी, पृष्ठ १३१;

५. जातक, चौथा, पृष्ठ ११६;

६. जातक, चौथा, पृष्ठ ??

७. ऐशेण्ट ज्याग्रफी, पृष्ठ ५०१

बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से वाराणसी नगरी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध ने इस नगर के ऋषिपतन मृगदाव में अपने पहले के साथी पच्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया था। उनका यह प्रथम धर्मोपदेश धर्मचक्र प्रर्वतन (धर्म का चक्का घुमाना) के नाम से जाना जाता है।[1] इसी कारण महापरिनिर्वाण सुत्त में इसकी गणना बौद्ध धर्म के चार तीर्थ स्थानो में की गई है।[2] इसके पश्चात् क्रमशः वाराणसी का श्रेष्ठी पुत्र यश, यश के चार गृहीमित्र–विमल, सुवाहु, पूर्णजित, गवांपति, पुनः प्रचास अन्य गृहीमित्रों ने उपसम्पदा पायी। इस प्रकार बनारस की इस यात्रा में कुल इकसठ अर्हत् लोक में विद्यमान थे जिन्हें धर्मप्रचार का प्रारम्भिक कार्य, सौपते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा "भिक्षुओं! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ! आदि में कल्याण (–कारक) मध्य में कल्याण (–कारक) अन्त में कल्याण (–कारक) इस धर्म का उपदेश करो।"[3] इस धर्म–प्रचार की प्रथम यात्रा के बाद भी भगवान् बुद्ध यहाँ अनेक बार आये और मज्झिम निकाय के घटिकार सुतन्त, सच्चविभंग सुतन्त, संयुत्त निकाय के पंचवग्गिय सुत्त, सील सुत्त आदि को उपदिष्ट किया।

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य विशेषकर जातकों में सबसे ज्यादा काशी जनपद एवं वाराणसी का ही उल्लेख आता है। काशी विशेषतः वनारस अपने वस्त्र एवं चन्दन के लिए सुविख्यात था। यहाँ के कपड़ों के लिए वाराणसेय्यक, काशिक, काशीकुत्तम, काशीय आदि शब्दों का प्रयोग

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६;

२. दीघ निकाय, २/३;

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१०,

मिलता है।[१] काशी के वस्त्रों का विशेष वर्णन आगे वस्त्र निर्माण उद्योग के प्रसंग में किया जायेगा। यहाँ हाथीदाँत[२] एवं लकड़ी का कारोबार भी उन्नत अवस्था में था।

वाराणसी तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों से विभिन्न मार्गो द्वारा सम्बद्ध था। राजगृह के तक्षशिला तक जाने वाले सुप्रसिद्ध उत्तरापथ मार्ग का वाराणसी एक पडाव था। अतः स्वाभाविक तौर से वाराणसी तक्षशिला एवं राजगृह से राजमार्ग द्वारा संयुक्त था। वाराणसी से श्रावस्ती तक भी एक मार्ग जाता था। इसी प्रकार नदी मार्गो द्वारा वाराणसी से पाटलिपुत्र, प्रयाग तक नावों का आवागमन होता था।[३]

वैशाली-

वज्जियों की राजधानी वैशाली बुद्ध युग का एक प्रमुख नगर था। जिसका समीकरण कर्निघम ने विहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले के आधुनिक बसाढ़ गाँव से किया है।[४] विनयपिटक में इसके बारे में कहा गया है कि "उस समय वैशाली ऋद्ध, स्फीत, बहुत जनों से मनुष्यों से आकीर्ण, सुभिक्षा (=अन्नपान–संपन्न) थी। उसमें ६६६६ प्रासाद, ६६६६ कूटागार, ६६६६ आराम, ६६६६ पुष्करिणियाँ थी।"[५]

वैशाली में विभिन्न विहार, चैत्य विद्यमान थे। दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण–सुत्त में स्वयं भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैंने वैशाली के उदयन चैत्य, गौतमक चैत्य, सप्ताम्र चैत्य, वहुपुत्रक चैत्य, सारन्दद चैत्य में विहार किया।[३] महात्मा बुद्ध के जीवन काल में बौद्ध–धर्म के प्रचार की

---

१. प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर जीवन, पृष्ठ १२५;

२. जातक संख्या २२१;

३. आगे व्यापारिक मार्गो के प्रसंग में विस्तृत विवरण दिया गया है।

४. आर्केलाजीकल सर्वे ऑव इण्डिया, भाग सोलहवाँ, पृष्ठ ६;

५. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१,

दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण स्थान महावन की कूटागारशाला थी। संयुत्त निकाय एव मज्झिम निकाय के विभिन्न सुत्तों का उपदेश भगवान् ने इस महावन की कूटागारशाला में दिया था। भगवान् को क्षीर-दायिका, मौसी महाप्रजापति गौतमी ने आनन्द के विशेष अनुरोध पर इसी कूटागारशाला में प्रव्रज्या की अनुमति पायी थी।[२]

गणिका आम्रपाली का आम्रवन (जिसका वर्णन वनों के सन्दर्भ किया जायेगा), बालकाराम विहार (जहाँ द्वितीय धर्म-संगीति की कार्यवाही हुई) भी बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान थे।

यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगरी थी राजगृह से श्रावस्ती के मार्ग के मध्य स्थित थी। यहाँ से गंगा नदी द्वारा वाराणसी से व्यापार होता था।

राजगृह

यह मगध राज्य की प्राचीन राजधानी थी। बिम्बसार (यूआन चुआङ् के अनुसार) अथवा अजातशत्रु (फा-ह्यान के अनुसार) के द्वारा इसके बसाये जाने का उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है। शक्तिशाली मगध राज्य की राजधानी तत्कालीन छे महानगरों में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी।[३] महात्मा बुद्ध से पूर्व मगध राज्य की राजधानी प्राचीन राजगृह (गिरिव्रज) थी। यह प्राचीन राजगृह पाँच पहाड़ियों जिनके नाम मज्झिम-निकाय के इसिगिल-सुत्तन्त में इसिगिलि,

---

१. दीघ निकाय २/३

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/१/१;

३. दीघ निकाय, २/३,

वेभार, पण्डव वेपुल्ल एवं गिज्झकूट कहे गये हैं।[1] इन पर्वतों में गिज्झकूट पर्वत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्रारम्भिक पालि साहित्य से स्पष्ट है कि भगवान यहॉ अनेक बार आये। विभिन्न निकायों के अनेक सुत्त जैसे मज्झिम निकाय के चूळ–दुक्खक्खन्ध सुतन्त, इसिगिलि सुतन्त, दीघ निकाय के महागोविन्द–सुत्त, उदुम्बरिक–सीहनाद–सुत्त, संयुक्त निकाय के अभयसुत्त आदि को यही उपदिष्ट किया।

महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह में ही प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया।[2] यह नगर सड़क मार्ग द्वारा उत्तर पश्चिम में तक्षशिला से लेकर दक्षिण में प्रतिष्ठान तक जुडा हुआ था। बावरी ब्राह्मण के सोलह शिष्य प्रतिष्ठान, माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद्ध, विदिशा, वन नगर, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, सेतव्य, कपिलवस्तु, कुसीनारा, पावा, भोगनगर, वैशाली, होते हुए राजगृह पहुँचे थे।[3]

सेतव्या - यह कोसल देश का एक नगर था। कोसलराज प्रसेनजित् ने पायासी राजन्य (=राजञ्ञ, माण्डलिकराजा) को यहॉ का स्वामी बनाया था।[4] कुमार कस्सप एक बार सेतव्या नगर के उत्तर में सिंसपावन में गये वहाँ उनका पायासी राजन्य से वार्तालाप हुआ।[5] यह नगर एक महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग में स्थित था। उत्तर से दक्षिण पूर्व जाने वाले मार्ग अर्थात् राजगृह

---

१. मज्झिम निकाय, ३/२/६;

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ११/१/२

३. सुत्त–निपात, ५/१;

४. दीघ–निकाय, २/१०;

५. वही;

से श्रावस्ती जाने वाले बुद्ध कालीन प्रसिद्ध मार्ग पर यह नगरी स्थित था। बावरी ब्राह्मण के सोलह ब्राह्मण शिष्यों ने जो दक्षिण भारत से भगवान् बुद्ध के दर्शन हेतु जा रहे थे इसी मार्ग का अनुसरण किया था।[1]

भोगनगर - भगवान् बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में भोगनगर भी गये थे। यहाँ के आनन्द चैत्य में उन्होंने चार महाप्रदेश का उपदेश दिया था।[2] इसकी स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। दीघ निकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त से इतना तो स्पष्ट है कि यह नगर जम्बूगाम एवं पावा के मध्य स्थित था। परन्तु यह किस राज्य में सम्मिलित था यह अनिश्चित है। विमल चरण लाहा, एवं भरतसिंह उपाध्याय ने इसे मल्लों का एक नगर माना है परन्तु राहुल सांकृत्यायन, हेमचन्द्र रायचौधरी एवं मललशेखर ने इसे वज्जि-संघ का एक अंग माना है। राजगृह से श्रावस्ती जाने वाले व्यापारिक मार्ग के मध्य में यह भोगनगर स्थित था। इस प्रकार इस नगर की महत्वपूर्ण व्यापारिक स्थिति थी।[3]

भद्दिय- यह अंग जनपद का एक नगर था। एक बार भद्दिय के जातियावन में निवास करते हुए, भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को बहुमूल्य पादुकाएँ पहनने का निषेध किया था।[4] इस नगर का मेंडक नामक श्रेष्ठी भगवान् बुद्ध के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था। भगवान् बुद्ध के एक अन्य बार भद्दिय आने पर उसने याचना की थी "जब तक भन्ते! भगवान् भद्दिया में बिहार करते हैं, तब तक मैं बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ की ध्रुव-भक्त (=सर्वदा के भोजन) से (सेवा) करूँगा।"[5] भगवान् बुद्ध सहित साढ़े बारह सौ भिक्षुओं को उसने साढ़े बारह सौ गायों के गर्भधारवाले दूध के साथ भोजन कराया था। इसके पश्चात् ही बुद्ध ने भिक्षुओं को पाँच गोरस-दूध, दही, तक्र (छाछ), नवनीत (=मक्खन) और घी की अनुमति दी थी।

---

१. सुत्त-निपात, ५/१;

२. दीघ-निकाय २/३;

३. सुत्त-निपात,५/१;

४. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११;

५. वही, ६/६/३;

आपण- यह अंग जनपद का एक नगर था। यहाँ मज्झिम निकाय के अनेक सुत्त[1] एव संयुत्त–निकाय के आण्णसुत्त[2] के उपदेश भगवान् बुद्ध ने यही दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक व्यापारिक नगर था। पपञ्चसूदनी नाम पड़ने का कारण है कि यह बीस हजार आपणों (दुकानों या बाजारों) नगरों से युक्त नगरी थी।[3]

---

१. मज्झिम–निकाय पोतलिय सुतन्त; लकुटिकोपन सुतन्त, सेल–सुत्तन्त;

२. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ ७२६;

३. पपञ्चसूदनी, भाग दूसरा, पृष्ठ ५८६;

ग्राम एवं निगम

अन्धकविन्द-

यह राजगृह के समीप स्थित एक गाँव था। भगवान बुद्ध ने अंधकविन्द में ही भिक्षुओं को यवाग एवं मधुगोलक की अनुमति दी थी।[1] प्रतीत होता है अंधकविन्द से राजगृह की ओर एक व्यापारिक मार्ग जाता था वेलट्ठकच्चान (= काव्यायन) गुड़ के घड़ों से भरी पॉच सौ गाडियों के साथ इस मार्ग से जा रहा था।[2] एकबार इस मार्ग उपोसथ हेतु जाते हुए आयुष्मान महाकाश्यप का चीवर नदी पार करते समय भीग गया था।[3] इस नदी की पहचान सर्पिणी नदी से की गई है। भगवान् बुद्ध यहॉ कई बार आये थे।

अम्बसण्ड -

राजगृह के पूर्व दिशा में स्थित यह एक ब्राह्मण ग्राम था। दीघ–निकाय के सक्कपञ्ह–सुत्त का उपदेश यही दिया गया था।

सेनानिगाम या सेनानिनिगम -

यह उरूबेला प्रदेश में नैरेजना नदी के तट पर में स्थित था। यही सेनानी कुटुम्बी के घर में उत्पन्न सुजाता नामक स्त्री ने भगवान को ज्ञान प्राप्ति के पूर्व दिव्य खीर खिलायी थी।[4]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ६–४–३;

२. वही, ६–४–५;

३. वही, २–२–३;

४. जातक, प्रथम खण्ड, हि० अ० पृष्ठ १३६;

खाणुमत -

यह मगध देश में स्थित था। मगधराज् श्रेणिक बिम्बसार ने कूटदन्त नामक ब्राह्मण को यह गाँव दान में दिया था। जब भगवान यहाँ पधारे तो कुटदन्त ब्राह्मण बहुत बड़े (हिंसामय) यज्ञ का आयोजन करने वाला था। परन्तु भगवान् द्वारा ऐसे हिंसक यज्ञ की निन्दा करने पर अन्तत सारे पशुओं को कूटदन्त ने मुक्त कर दिया और भगवान् की शरण में चला गया।[१]

मचलगाम -

यह मगध का एक ग्राम था। एक जातक कथा में उल्लेख आया है कि इस गाँव में तीस ही परिवार थे। इस तीसो परिवार के लोग किसी ग्राम–कार्य से एक दिन एकत्र होते है। बुद्धकालीन ग्राम–व्यवस्था तथा जनतंत्रीय शासन पद्धति का इस गाँव को हम एक नमूना मान सकते है।[२]

एकनाला-

सुत्त–निपात में कहा गया है कि एकनाला मगध के दक्षिणगिरि जनपद में ब्राह्मणों का गॉव था। यहाँ का समृद्ध कृषक कृषिभारद्वाज भगवान को जोत–बोकर अन्न ग्रहण करने को कहता था।[३] इस दक्षिणागिरि जनपद में भगवान बार आये।[४] यहाँ के मेड़, कतार, मर्यादा, चौमेड़ युक्त खेत भगवान् को बड़े सुन्दर लगे एवं भिक्षुओं के लिए वैसे ही चीवर बनाने के लिए उन्होने आनन्द से कहा।[५]

---

१. दीघ निकाय, १/५;

२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २१६;

३. सुत्त–निपात, १/४;

४. विनयपिटक, महावग्ग, १/३/६;

५. वही, ८/४/२;

देवदह-

मज्झिम निकाय देवदह–सुत्तन्त[1] एवं संयुत्त–निकाय के देवदहरवण सुत्त[2] मे देवदह को शाक्यो का कस्बा कहा गया है। पपंचसूदनी[3] एवं सारत्थप्पकासिनी[4] से स्पष्ट है कि यहॉ देवदह नामक मगल पुण्करिणी थी, इस पुष्करिणी के नाम पर इस स्थान का नाम भी देवदह पडा। भगवान् बुद्ध की मॉ, मौसी महाप्रजापति गौतमी एवं पत्नी भद्रा कात्यायनी इसी देवदह नगरी की थी। बुद्ध की माता महामाया देवी गर्भ के परिपूर्ण होने पर महाराज शुद्धोदन से – "देव, (अपने पिता के) कुल के देव–दह नगर जाना चाहती हूँ" की इच्छा व्यक्त करती है।[5] यह नगरी रोहिणी नदी के पूर्वी किनारे पर बसी थी।

पाटलिग्राम -

महात्मा बुद्ध के समय ग्राम मात्र की उपाधि प्राप्त करने वाला यह स्थान, कालान्तर में भारत के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य मगध की राजधानी बना। इसके अति समृद्धियुक्त भविष्य की भविष्यवाणी भगवान् बुद्ध ने दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण सुत्त में की थी "आनन्द! जितने (भी) आर्य–आयतन (= आर्यों के निवास) हैं, जितने भी वणिक–पथ (=व्यापारिक मार्ग) हैं, (उनमें) यह पाटलिपुत्र, पुट–भेदन (= माल की गाँठ जहां तोड़ी जाय) अग्र (=प्रधान) नगर होगा।"[6] बुद्ध–काल में यह ग्राम थल एवं जल दोनो प्रकार के व्यापारिक मार्गों का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। प्रसिद्ध उत्तरापथ मार्ग जो गन्धार की राजधानी तक्षशिला से राजगृह तक जाता था पाटलिपुत्र से भी होकर गुजरता था। पाटलिपुत्र से गंगा नदी के द्वारा ताम्रलिप्ति तक एक महत्वपूर्ण जलीय मार्ग था जहाँ से आगे लंका तक समुद्री मार्ग द्वारा आवागमन होता था। अशोक के दूत इसी मार्ग से लंका गये थे। गंगा नदी के मुहाने से लेकर चम्पा, पाटलिपुत्र, वाराणसी एवं सहजाति तक भी व्यापारियों एव यात्रियों का एक अन्य मुख्य मार्ग था।

---

१. मज्झिम–निकाय, हि० अ०, पृष्ठ ४२७;

२. संयुक्त निकाय, हि० अ०, पृष्ठ ५०२,

३. भाग दूसरा, पृष्ठ ८१०,

४. भाग दूसरा, पृष्ठ १८६;

५. जातक, प्रथम खण्ड, पुष्ठ ११९;

६. दीघ–निकाय, २/३;

भगवान अन्तिम यात्रा में जब पाटलिपुत्र से कुसिनारा की ओर जा रहे थे उसी समय मगध नरेश अजातशत्रु के मन्त्री सुनीध एवं वर्षकार पाटलिग्राम में वज्जियों पर के आक्रमण का सामाना करने के लिए नगर–निर्माण कर रहे थे।[१]

वेहंलिग -

यह निगम कोसल देश मे स्थित था। बुद्ध के "पूर्व काल में इस प्रदेश ऋद्ध = स्फीत, बहुजनाकीर्ण नामक ग्राम–निगम था।"[२] यहॉ एक सदाचारी घटिकार नामक कुम्भकार रहता था। भगवान् बुद्ध यहाँ आये एवं मज्झिम–निकाय के घटिकार–सुत्तन्त का उपदेश दिया।

ओपसाद -

कोशल देश का यह एक गॉव था कोशल नरेश प्रसेनजित् ने चंकि नामक ब्राह्मण को यह दान रूप में दिया था। मज्झिम–निकाय के चंकि सुत्तन्त का उपदेश भगवान् ने यही दिया था।[३]

सालवतिका -

यह कोशल राज्य का एक गाँव था। कोशल नरेश प्रसेनजित् ने लोहिच्च (लौहित्य) नामक ब्राह्मण को जनाकीर्ण तृण–काष्ठ–उदक–धान्य–सम्पन्न यह गॉव दान में दिया था। भगवान् बुद्ध ने दीघ–निकाय के लोहिच्च सुत्त का उपदेश यही दिया था।[४]

इच्छानंगल -

इच्छानंगल कोशल देश का एक ब्राह्मण–ग्राम था।[५] सुत्त–निपात के वासेट्ठसुत्त से स्पष्ट होता है कि इच्छानंगल ग्राम में चूँकि ब्राह्मण, तारूक्ख (= तारुक्ष) ब्राह्मण, जानुस्सोणि ब्राह्मण, तोदेय्य ब्राह्मण और अन्य भी महाशाल (= अति धनाढ्य) एवं अभिज्ञात (= प्रसिद्ध) ब्राह्मण

---

१. दीघ–निकाय, २/३;

२. मज्झिम–निकाय, २/४/१;

३. वही, २/५/५;

४. दीघ–निकाय १/१२;

५. दीघ–निकाय, १/३;

निवास करते थे।[1] वर्ण व्यवस्था का खण्डन करने वाले वासेट्ठसुत्त को भगवान् ने यही उपदेश दिया था। इच्छानंगल ग्राम के समीप इच्छानंगल वन–प्रान्त भी स्थित था जहॉ भगवान बुद्ध कई बार गये। संयुत्त निकाय के इच्छानगल सुत्त एवं दीघ–निकाय के अम्बट्ठ–सुत्त को भगवान् ने यहीं उपदिष्ट किया।[2]

उक्काट्ठा -

कोशल देश का एक ब्राह्मण–ग्राम था। कोशल[3] नरेश प्रसेन्जित् ने पौष्करसाति नामक ब्राह्मण को यह गॉव दान में दिया था।

मनसाकट-

कोशल देश में मनसाकट ब्राह्मणों का एक ग्राम था। इसके समीप बहने वाली अचिरवती नदी के तट पर आम्रवन में भगवान् बुद्ध ने दीघ–निकाय के तेविज्ज सुत्त का उपदेश दिया। इस ग्राम में अनेक धनी एवं प्रसिद्ध ब्राह्मण तारूक्ख (= तारुक्ष), पोक्खर–साति (= पौण्करसाति), जानुस्सोणि, तोदेय्य आदि के आठों का उल्लेख मिलता है।[4]

---

१. सुत्त–निपात, ३/६;
   मज्झिम निकाय, वासेट्ठ–सुत्तन्त;

२. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृ० ७६८;
   दीघ–निकाय १/३;

३. वही;

४. वही;

अध्याय-३

कृषि एवं पशुपालन

कृषि एवं पशुपालन

कृषि-

कृषि समाज मे प्रतिष्ठित व्यवसाय था। वेदोत्तर काल में कृषि ने अर्थ–व्यवस्था में सर्वप्रमुख स्थान बना लिया था। कृषि–कर्म (कसिकम्म) किसी जाति विशेष का पेशा नही था। अनेक कृषक–ब्राह्मण परिवारों का उल्लेख उपलब्ध साक्ष्यों में मिलता है। मज्झिम निकाय का गोपाल मोग्गल्लान ब्राह्मण कृषक था।[१] पिप्पलि माणवक (बाद में स्थविर महाकाश्यप) के यहाँ भी खेती होती थी। मगध के दक्षिणगिरि में एकनाला नामक ब्राह्मण ग्राम में कृषिभारद्वाज ब्राह्मण के ५०० हल बोने के समय जुताई कार्य में लगे हुए थे।[२] कृषक को अपनी सश्रम जीविका पर बडा संतोष एवं स्वाभिमान था। कृषिभारद्वाज भगवान् बुद्ध से बड़ी निर्भीकता से कहता है[३]– "हे श्रमण! मैं जोतता और बोता हूँ, जोत और बोकर खाता हूँ। हे श्रमण! तुम भी जोतो और बोओ, जोत और बोकर खाओ।"

---

१. मज्झिम–निकाय, महा–गोपालक–सुत्तन्त; १/४/३

२. सुत्तनिपात, १/४, तेन खो पन समयेन कसिभरद्वाजस्स ब्राह्मणस्स पञ्चमत्तानि नङ्गलसतानि पयुत्तानि होन्ति वप्पकाले।

३. सुत्तनिपात १/४, "अहं, खो समण! कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि; त्वं पि समण! कसस्सु च वपस्सु च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सू" ति।

प्राय सभी ग्रामीण सन्निवेशो के समीप उपजाऊ खेतों के टुकड़े होते थे तथा कृषक इसमें विभिन्न प्रकार की फसले उगाते थे। भिन्न–भिन्न परिवारों के अलग–अलग खेत होते थे जो मेडों या पानी की नालियों के द्वारा एक दूसरे से विभक्त रहते थे। कहीं–कहीं एक खेत को दूसरे से अलग करने के लिए स्तम्भ (पालि, थम्म) भी लगा दिये जाते थे। मगध के खेतों का यह दृश्य भगवान् बुद्ध को बड़ा सुहावना लगा था और इसी से उन्हे भिक्षुओं के चीवर बनाने की प्रेरणा मिली थी। "आनन्द देख रहा है तू मगध के खेतों को मेड बँधा, कतार बँधा,, मर्यादा–बँधा और चौमेड बँधा?– – – – क्या तू भिक्षुओं के लिए ऐसे चीवर बना सकता है?"[1] प्रशासन भी कृषि–कर्म के महत्व से पूर्णतया परिचित था। इसी कारण राजा स्वयं इस कार्य में हिस्सा लेता था। महाराज शुद्धोदन के यहॉ (खेत) बोने का उत्सव था। सारा नगर सजाया जाता था। सभी दास और भृत्य आदि नये वस्त्र पहन, गंध–माला आदि से विभूषित हो, राजमहल में इकठ्ठे होते थे। राजा रत्न–सुवर्ण जटित, अमात्य सुनहले एवं कृषक साधारण हलों से जुताई करते थे।[2]

आज की ही भाँति बुद्धकालीन भारत में भी हमें आर्थिक परिदृश्य दिखाई देता है, जिसमें बडे–छोटे सभी प्रकार के कृषक थे। कृषिभारद्वाज ब्राह्मण के यहॉ पाँच सौ हलों की खेती थी।[3] एक ग्रामवासी ने एक नगरवासी के पास पाँच सौ फाल धरोहर में रक्खे[4] ये पाँच सौ हलों एव फालों वाले कृषक निश्चय ही विशाल भू–सम्पत्ति के स्वामी होते होंगे। इसी प्रकार जातको में धान्य के व्यापारियों का उल्लेख मिलता है।[5] कृषि–कार्य में ये बडे भूमिधर, मजदरों एवं दासों

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, ८/४/२

अद्दसा खो भगवा मगधखेत्तं अच्छिबन्ध पालिबन्धं सिड.घाटकबन्ध, दिस्वान आयस्मन्त आनन्द आमन्तेसि "पस्ससि नो त्वं, आनन्द, मगधखेत्तं अच्छिबन्धं पालिबन्धं मरियादबन्ध सिड.ाटकबन्ध" ति? एवं भन्ते, ति। उस्सहसि त्वं आनन्द, भिक्खूनं एवरूपानि चीवराणि संविदहितुं ति? उस्सहामि, मगवा ति।

२ जातक, निदान कथा, शैशव का एक चमत्कार।

३. सुत्त–निपात, १/४

४. कूटवाणिज जातक, संख्या २१८

५. सालक जातक, संख्या २४६; अहिगुण्डिक जातक, संख्या ३६५;

की सहायता लेते थे।[1] जातकों में व्यापारियों की पाँच सौ गाडियों का व्यापार के निमित्त एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का उल्लेख मिलता है जिनमें अन्य वस्तुओं के साथ धान्य के व्यापारी भी रहते होंगे। वाराणसी के पिलिय सेठ के यहॉ एक हजार गाड़ी लाल चावल छटवाकर कोठे में रखा था।[2] साथ ही दो बैलों से खेती करने वाले गरीब कृषकों का भी उल्लेख मिलता है।[3] कभी–कभी बैलो को उधार मॉगना भी पडता था।[4] कुदाल–पण्डित कुदाल से जमीन खोद कर, उसमें साग, लौकी, कद्दू तथा अन्य सब्जी बोकर, उन्हें बेंचकर भी दरिद्र जीवन व्यतीत करता था।[5]

इसी प्रकार एक श्रावस्ती निवासी उपासक जड़ी–बूटी तथा लौकी–कद्दू आदि बेचकर गुजारा करता था।[6] फलों को बेचकर भी परिवार का पोषण किया जाता था।[7]

भूमि-

महात्मा बुद्ध उत्तम कृषि–भूमि की पहचान बताते हुए कहते हैं "भिक्षुओं! खेत ऊँचा–नीचा नहीं होता है, कॅंकड, पत्थर वाला नहीं होता, ऊसर नहीं होता, गहरा हल चलाया जा सकता है, (पानी के) आने का रास्ता होता है (पानी के) जाने का रास्ता होता है, पानी की मातृकायें (=नालियॉ) होती हैं, खेत की मार्यादा (=बाड़) होती है। भिक्षुओं! जिस खेत में ये आठ बातें होती हैं, उसमें जो बीज बोया जाता है, उसका महान् फल होता है, स्वादिष्ट फल होता है, अच्छी फसल होती है।"[8] कृषक कृषि योग्य भूमि का चुनाव करने के लिए मिट्टी की पहचान

---

१. सुबण्णकक्कटक जातक, संख्या ३८९;
२. असम्पदान जातक, संख्या १३१;
त दिवस किर सो रत्तसालीनं सकटसहस्समत्त ओपुनावेत्वा कोट्ठागारं पूरापेसि।
३. जातक संख्या २११, सोमदत्त जातक;
४. जातक संख्या २५७;
५. जातक, संख्या ७०, कुदाल जातक;
६. जातक संख्या २१७, सेग्गु जातक, जातक संख्या १०२, परिणक जातक
सो किर सावत्थिवासी उपासको जानोपकारकानि मूलपण्णादीनि
चेव लाबकुम्भण्डादीनि च विक्किणित्वा जीविकं कप्पेति।
७. अम्ब जातक, जातक संख्या ४७४;
८. अंगुत्तर–निकाय, हि० अनु० तृतीय भाग, पृष्ठ ३१४

करते थे। उत्पादकता को ध्यान में रखते हुए दो प्रकार की मिट्टी दृष्टिगत होती है। एक उर्वर भूमि और दूसरी ऊसर या मरुभूमि। बौद्धसाहित्य में कृषिकर्म के सम्बन्ध में इन्हीं दो प्रकार की भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है। जो अनुपजाऊ भूमि था उनमे पत्थर, रोड़े एवं बालू इत्यादि अधिक मात्रा में पाया जाता था। बौद्ध ग्रन्थें में उर्वर भूमि को "जातपथवी" एवं ऊसर भूमि को "अजातपथवी" कहा गया है। जातकों में उपजाऊ भूमि को मधुमक्खी के छत्ते के समान माना गया है जिसकी मिट्टी अत्यन्त चिकनी एवं महीन होती थी।[1] संयुत्त–निकाय में कृषक गृहस्थ के तीन प्रकार के खेत का उल्लेख है– एक बड़ा अच्छा, एक मध्यम और एक बडा बुरा जंगल ऊसर।[2]

उस समय के कृषको को कृषि कार्य का उत्तम ज्ञान था अतएव वे भूमि का चयन बडी कुशलता एवं सजगता से करते थे। उन्हें इसका अनुमान था कि किस मिट्टी में कौन सी फसल होगी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी किस फसल के लिए कौन सी भूमि उत्तम है इसका वर्णन मिलता है। "नदी के कछारों एवं किनारों की जमीन का पेठा, कद्दू, ककड़ी तथा तरबूज आदि बोने के लिए उपयुक्त है, पीपल और ईख आदि बोने के लिए वह जमीन उपयुक्त है, जहॉ पर नदी का जल एक बार घूम गया हो, साग–भाजी बोने के लिए कुऐं के आस–पास की जमीन उपयुक्त है, जई आदि बोने के लिए झील तथा तालाबों के किनारे की गीली जमीन उपयुक्त है, धनिया, जीरा, खस, नेत्रवाला तथा कचालू आदि बोने के लिए ऐसे खेत उपयुक्त है, जिनके बीच में तालाब बने हों, सूखी और गीली, जमीन में जिन–जिन अनाजों की अधिक उपज हो उनको समझा कर बोना चाहिए।"[3] राज्य को सबल–उन्नत बनाने के लिए आवश्यक था कि राजा कृषि की उन्नति के लिए अपनी सहायता प्रदान करे। महाविजित नामक राजा को ब्राह्मण–पुरोहित ने सलाही दी "राजन जो कोई आपके जनपद में कृषि गोपालन करने का उत्साह रखते हैं, उनको आप बीज और भोजन प्रदान करें।[4] तब राजा के इस प्रकार अनुसरण करने से जनपद अकंटक अपीड़ित क्षेम–युक्त हो गया।

---

१. जातक, फॉसवाल, जि० १, पृ० १६४, २४०, ३८८, जिल्द ३, पृ० ४०१

२. सयुत्त–निकाय, ४/४०/७;

३. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, प्रकरण ४०, अध्याय २४

४. दीघ–निकाय, कुटदन्त–सुत्त, १/५/२

तेन हि भवं राजा ये भोतो रञ्ओ जनपदे उस्सहन्ति कसिगोरक्खे तेसं भवं राजा बीजभतं अनुप्पदेतु।

'ऐसी ऊसर या बंजर जिसको किसान ने अपने श्रम से खेती योग्य बनाया है, राजा को चाहिए कि उसे कभी वापिस न ले, ऐसी जमीन पर किसानों का पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि कोई किसान किसी खेती योग्य भूमि को बिना जोते–बोये परती ही डाले रहता है तो राजा को चाहिए कि ऐसे किसान से उस भूमि को छीनकर किसी जरूरतमंद दूसरे किसान को दे दे – – – राजा को चाहिए कि वह अन्न, बीज, बैल और धन आदि देकर किसानों की सहायता करता रहे और किसानों को भी चाहिए कि फसल कट जाने पर सुविधानुसार धीरे–धीरे वे उधार ली हुई वस्तुओं को राजा को वापसि कर दें।[1] – – – – – खेतों का वर्गीकरण उनमे बोई फसलों के आधार पर किया जाता था।[2] जैसे यवखेत= जौ का खेत, सालिखेत=धान का खेत, इच्छुखेत=ईख का खेत और तिणखेत्त=घास का खेत आदि। अन्न के खेतों के अतिरिक्त खेतों की कोटियों में घास के खेत के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कृषि कार्य हेतु रखे गये पशुओं की देखरेख उचित ढंग से होती थी।

कृषि के उपकरण

हल-

सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास, व्यावहारिक अनुभव एवं तकनीक ने वैदिक कालीन कृषि के उपकरणों को बौद्धकाल तक आते–आते एक निश्चत रूप प्रदान किया। हल के द्वारा जुताई की जाती थी यह लकड़ी का होता था एवं जिसमें लकड़ी या लोहे का वह भाग लगा रहता था जो जमीन के अन्दर प्रविष्ट होकर मिट्टी को उखाड़ता था वह फाल कहलाता था। पालि

---

१. कौटिल्यम् अर्थशास्त्रम्, वापस्पति गैरोला,
प्रकरण १७, अध्याय १, पेज नं० ७८

२. जातक प्र०, पृ० १६४, २४०, ३८८, चतुर्थ; पृ० २५०, २२६

साहित्य में हल चलाते हुए कृषकों का दृश्य बहुधा दिखाई देता है।[१] राजगृह के पूर्व की ओर सालिन्दिय नाम का एक ब्राह्मण गॉव था। वहॉ एक कृषक अपने आदमियों के साथ खेत पर जाता है और मजदूरों को 'हल चलाओ' का आदेश देता है।[२] कासिभारद्वाज ब्राह्मण के यहॉ पॉच सौ हलो की खेती होती थी।[३] वाराणसी के एक ग्रामवासी व्यापारी ने नगरवासी व्यापारी के यहॉ पॉच सौ फाल रखे थे।[४] भिक्षु–भिक्षुणियों से कहा जाता था, "हलों से खेत को जोत कर और धरती में बीज बोकर मनुष्य धन प्राप्त करते हैं और अपने स्त्री–पुत्रों का पालन–पोषण करते हैं – – – – – तुम भी बुद्ध–शासन को क्यों नहीं करते, जिसे करके पीछे पछताना नहीं पडता।"[५]

यद्यपि साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आर्यो को लोहे का ज्ञान था। परन्तु छे सौ ई० पू० के आस–पास ही लोहे का प्रयोग सामान्य प्रचलन की वस्तु बना। लोहे के फाल का प्रयोग कृषि कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। लकड़ी के फाल से उतनी गहरी जुताई नही हो सकती जितनी लोहे के फाल के द्वारा। गहरी जुताई से अधिक अन्न उत्पादन होने लगा जिससे उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। लोहे के फाल के प्रयोग के साक्ष्य प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में जगह–जगह मिलते हैं। सुत्त–निपात[६] को कहा गया है कि "दिनभर का तपाया फाल जल में डालने पर चिच्चिट, चिटचिट करता है, ऊपर भाप छोडने लगता है ऐसे ही खीर जल में फेंकने पर चिच्चिट, चिटचिट करने लगी और ऊपर भाप छोडने लगी। कुछ इसी प्रकार का उल्लेख संयुत्त–निकाय में भी मिलता है– "जैसे, दिन भर, आग में

---

१. महाकपि जातक, संख्या ५१६, धतासन जातक, सख्या १३३;

२. सुवण्णकक्कटक जातक, संख्या ३८६

३. सुत्त–निपात, १/४,

४. जातक; संख्या २१८

५. "नंगलेहि कसं खेत्त बीजानि पवपं छमा। पुत्तदारानि
पोसेन्ता धनं बिन्दन्ति मानवा....... ....करोथ बुद्धशासनं
यं कत्वा नानुतप्पति", थेरीगाथा, गाथाएँ ११२, ११७ (बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण)।

६. सुत्त–निपात १/४;
सेय्यथापि नाम फालो दिवससन्तत्तो उदके पक्रिक्तो चिच्चिटायति चिटिचिटायति सन्धूपायति सम्पधूपायति, एवमेव सो पायसो उदके पक्रिस्तो चिच्चिटायति चिटिचिटायति सन्धूपायति सम्पधूपायति।

तपाया लोहे का फार पानी में पड़ते ही चटचटाते हुये भभक उठता है, लहर उठता है, वैसे ही वह हव्यशेष पानी पर पड़ते ही चिड़चिड़ाते हुय भभक बैठा, लहर उठा।"[1] सूची जातक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आस–पास के गाँव के लोग फाल वनवाने के लिए लोहार गॉव में जाते थे।[2]

बैल-

हल खींचने के लिए बैलों को जुए या योत्र अथवा योक्क (जोत) से कसा जाता था। इसलिए बैलों को 'युग्म' भी कहा गया है। संयुत्त निकाय में कहा गया है 'प्राणियों में बैल काम मे साथ देता है और जोत उसके चलने का रास्ता है।'[3] गामणीचण्ड नामक राजा के सेवक ने जब कृषिकर्म करने की ठानी तो बैलों के न होने के कारण उसने अपने मित्र से दो बैल मॉगे।[4]

जिनके पास थोड़ी भूमि थी या जो हल एवं बैल की व्यवस्था करने में सक्षम नही थे वे कुदाल या फावड़े से अपनी भूमि को खोदते थे। गरीब, कुदाल–पण्डित, कुदाल से जमीन खोदकर सब्जी–तरकारी बोकर उन्हें बेचकर जीवन यापन करता था।[5]

विनयपिटक में फरसा, कुदाल, निखादन (=खनने के औजार) का उल्लेख आया है।[6] सुत्त–निपात के कसिभारद्वाज सुत्त से स्पष्ट है कि जुआट, फाल, हल, छेकुनी एवं बैलों की मदद कृषि कार्य में आवश्यक थी।[7] भगवान बुद्ध का घोर विरोधी मार कृषक का स्वांग रचकर भगवान् बुद्ध के पास आता है, तो तत्कालीन कृषक एवं आज के किसान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। 'एक बड़े हल को कन्धे पर लिए, एक लम्बी छकुनी लिये बाल बिखेरे, टाट के कपड़े पहने पैरों में कीचड़ लगाये पापी मार आता है।[8]

---

१. सयुत्त–निकाय १/७/१/६
२ सूची जातक;
३. सयुत्त–निकाय, १/१/८०
किसु कममे सजीवानं, किमस्स इरियापथे
गावो कम्मे सजीवान सीतस्स इरियापथो
४. गामणीचण्ड जातक, संख्या २५७;
५. कुदाल जातक, जातक संख्या ७०;
६. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/५/३;
७. सुत्त पिटक १/४ "न खोपन मय पस्साम भोतो गोतमस्स युगं वा नगलं वा फालं वा पाचनं वलिवद्दे वा;"
८. संयुत्त निकाय १/४/२/६
ऊध खो मारो पापिमा कस्सकवण्णं अभिनिम्मिनित्वा महन्तं नंगलं खन्धे करित्वा दीघपाचनयट्ठिं गहेत्वा हटहटकेसो साणसाटिनिवत्थे कदमभक्खितेहि पादेहि येन भगवा तेनुपसंकमि, उपकंकमित्वा भगवन्तं एतदवोच।

कृषि की विधियाँ-

मल्ल निगम का शाक्य महानाम प्रव्रजित होने की इच्छा जाग्रत होने पर भाई अनुरुद्ध को गृहस्थी (कृषि का) का कार्य–भार समझाते हुए कहता है–

"पहले खेत जोतवाना चाहिये। जोतवाकर बोवाना चाहिए। बोवाकर पानी भरना चाहिए, पानी भरकर निकालना चाहिए, निकाल कर सुखाना चाहिये, सुखाकर कटवाना चाहिए, कटवाकर ऊपर लाना चाहिये, ऊपर ला सीधा करवाना चाहिए, सीधा कर मर्दन करवाना (=मिसवाना) चाहिये, मिसवाकर पयाल हटाना चाहिये। पयाल को हटाकर भूसी हटाना चाहिये। भूसी हटाकर फटकवाना चाहिये। फटकवाकर जमा करना चाहिये। इसी प्रकार अगले वर्षो में भी काम करना चाहिये।"[१]

कोशल देश के सीमान्त ग्राम में खेत में पानी देनें, बीज बोने, मेड़ बॉधने, गुड़ाई करने, काटने, दौरी करने का वर्णन है।[२] प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में कृषि सम्बन्धी विविध प्रक्रियाओं का विस्तृत विवरण है–

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४/७/१

एहि खोते, तात अनुरूद्ध घरावासत्थ अनुसासिस्साम्मि/

पठम खेत्त कसापेतब्बं/ कसापेत्वा वपापेतब्ब/

वपापेत्वा उदकं अभिनेतब्ब उदक अभ्नोित्वा उदकं निन्नेतब्बं/

उदक निन्नेत्वा निद्धापेतब्बं/

निद्धापेत्वा लवापेतब्ब/

लवादेत्वा उब्बाहापेतब्बं/ उब्बाहापेत्वा पुञ्ञं कारापेतब्नं/ पुद्ध कारापेत्वा मदापेतब्नं/ मदापेत्वा पलालानि उद्धारपेतब्बानि/पलालानि उद्धारपेत्वा मुसिका उद्धरापेतब्बा/ मुसिकं उद्धरापेत्वा ओपुनापेतब्बं/ ओपुनापेत्वा अतिहारापेतब्नं/

अतिहरापेत्वा आयति पि वस्स एवमेव कातब्नुं, आयति पि वसनं एवमेव कातब्ब ति।

२. सकुण जातक, संख्या ३६;

जोतना या कर्ष-

कृषि के लिए सर्वप्रथम खेत की समुचित जुताई की जाती है। जुताई से भूमि की मिट्टी मुलायम एवं महीन हो जाती है जो कि बीज बोने के लिए आवश्यक है। इस समय तक लकड़ी के साथ–साथ लोहे के फाल लगे हलों से जुताई की जानी लगी थी। लोहे के फाल के प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख जातकों एवं अन्य बौद्धग्रन्थें में मिलता है। काशी देश में एक गॉव से कुछ दूरी पर लोहारों का गॉव था। आस–पास के गाँव के लिए कृषि के लौह उपकरणों– छुरी, कुल्हाणी, फरसा, फाल आदि बनवाने के लिए लोहारों के गॉव में जाते थे[१]– कसिभरद्वाजसुत्त में कहा गया है कि– "दिनभर का तपाया फाल जल में डालने पर चिच्चिट, चिटचिट करता है, ऊपर भाप छोडने लगता है[२]– ऐसी ध्वनि गर्म लकड़ी के फाल में सम्भव नहीं है लोहे का तप्त फाल ही पानी में पडने पर इस प्रकार की आवाज कर सकता है। लोहे का फाल अधिक गहरी जुताई करने में सक्षम था जिससे उत्पादन में बृद्धि हुई। इस अतिरेक उत्पादन ने पूरी अर्थव्यवस्था पर अपना गहरा प्रभाव डाला। अच्छी फसल की उम्मीद में खेतों को बार–बार जोता जाता था।[३] पाणिनि ने भी इसका संकेत दिया है कि खेत की जुताई करने और भूमि कमाने में किसान इतना अधिक श्रम करते थे कि खेत की उर्वरा शक्ति दुगुनी हो जाती थी। अधिक गहरी फाड (जोत) के लिए हल को उल्टा चलाते थे, जिससे शम्बाकरोति कहा जाता था।[४] थेरगाथा में कहा गया है, कृषक खेतों की अच्छी जुताई–बोवाई अच्छी फसल प्राप्त होने की आशा से ही करते थे। संयुत्त–निकाय में कहा गया है कि शरदकाल में खेतों की जुताई करने के फलस्वरूप किसानों को कृषि का विशेष लाभ पहुँचता था[५] जुताई क्रिया का अच्छी फसल से घनिष्ठ सम्बन्ध था "जिस कुल–पुत्र को अपनी जमीन जोतने वाले, रस्सी आदि से नापने– जोखने, वाले आदमियों का आशिर्वाद प्राप्त हो, उसकी उन्नति की ही आशा करनी चाहिए, अवनति की नहीं।"[६]

---

१ जातक, सूची जातक, सख्या ३८७

२. सुत्त–निपात १/४, सेय्यथापि नाम फालो दिवससन्तत्तो उदके पक्खितो चिच्चटायति चिटिचिटायति सन्धूपायति सम्पधूपायति, एवमेव सो पायासो उदके पक्खितो चिच्चिटायति चिटिचिटायति सन्धूपायति सम्यधूपपायति।

३. सयुत्त निकाय १/७/१२
"पुनप्पुनं खत्तं कसन्ति कस्सका
पुनप्पुनं धञ्ञमुवेति रट्ठं।"

४. काशिका ५/४/५८ 'अनुलोम कृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कृषीत्यर्थः'।

५. संयुत्त–निकाय; ३/२१/२/५/१० हि० अनु० पृष्ठ ३८८

६. अंगुत्तर–निकाय, हि० अनु०, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३०१;

बोना– जुताई के बाद खेत बोने लायक हो जाता था। अच्छे बीज से ही उन्नत फसल की उम्मीद की जा सकती है।संयुत्त–निकाय में बीज के पॉच प्रकार बताते हुए कहा गया है कि अच्छी फसल के लिए आवश्यक है कि "बीज अखण्डित हो, सड़े गले नहीं हो, हवा या धूप से नष्ट नहीं हो गये हों, सार वाले हों और आसानी से रोपें जा सकने वाले हो।"[1] दीघ निकाय में भी उत्पत्ति के आधार पर बीजों का वर्गीकरण किया गया है जैसे मूलबीज (=जिनका उगना मूल से होता है) स्कन्धबीज (=जिनका प्ररोह गॉठ से होता है, जैसे ईख) फलबीज, अग्रबीज (=ऊपर से उगता पौधा)[2]

बुआई एक शुभ कार्य माना जाता था। "बोने से पहिले – – – – –बीज की पहली मुट्ठी भरकर यह मन्त्र पढ़ना चाहिए; प्रजापति, सूर्यपुत्र और मेघ, तुम्हारी सदैव हम बन्दना करते हैं, हे धरती माता, हमारे बीजों और अनाजों में सदा बृद्धि होती रहे।"[3] पाणिनी, कौटिल्य एवं वाल्मीकि ने बुआई के उपयुक्त समय का उल्लेख किया है। जातक[4] में बुआई के समय एक विशेष उत्सव आयोजित करने का वर्णन है।

बुआई की कई विधियॉ प्रचलित थीं जैसे बेर, पवेड़ या छीट तथा चोवली आदि। हल चलाते समय बीज कूंड़ में गिरता जाय, इसे बेर की बुआई कहते थे। बीज को खेत में छींट कर चलाने का नाम पवेड़ की बुआई थीं तथा जोती हुई भूमि में बीज को हाथ से गाड़ना चोवली कहलता था।

---

१. सयुत्त–निकाय, ३/२१

मूलवीज, खन्धबीजं, अग्गबीज, कलुबीजं, वीजबीजपञ्चैवपञ्चम इमानि चस्सु भिक्खवे, पञ्च बीजजातानि अपूतिकानि अवातातपहतानि सारादानि सुखसयितानि, भिक्खवे, पञ्च बीजजातानि बुद्धि विरूलिहं वेपुल्लं

२. दीघनिकाय, १/२/२

मूलबीज खन्धवीज फलुबीजं अग्गवीजं बीजबीजमेव पञ्चम

३. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्; वाचस्पति गैरोला, प्रकरण ४०, अध्याय २४;

'प्रजायपतये काश्यपाय देवाय नमः सदा।

सीता मे ऋध्यता देवी बीजेषु च धनेषु चं'।।

४. जातक, निदान कथा, शैशव का एक चमत्कार;

बुआई के उत्सव में राजदरबार के समस्त परिजन अलंकृत एवं नवीन वस्त्रों से सुसज्जित होकर भाग लेते थे। रत्नो से युक्त हल द्वारा स्वयं राजा खेतों की जुताई करता था। तत्पश्चात कृषकों द्वारा भी यही कार्य किया जाता था। इससे दो बातें स्पष्ट होती है– प्रथम तो चूँकि राजा राष्ट्र का प्रतीक था इसलिए समस्त कार्यो के साथ–साथ वह कृषि जैसे उत्तम कार्य का शुभारम्भ करता था, दूसरी बात यह है कि कृषि कार्य इतना महत्वपूर्ण था कि राजा को स्वयं इसमें रुचि रखनी पडती थी, जिससे अन्नों का अधिक से अधिक उत्पादन हो सके।

संयुत्त निकाय में कृषको द्वारा खेतो में बारम्बार बीज बोने का उल्लेख है।[1] उत्तम बीज की बुआई जब नम भूमि में किया जाता था तो वे पृथ्वी के रस को भलीप्रकार ग्रहण कर उग आते थे और उनसे फसले भी उच्चकोटि की होती थी।[2]

सिंचाई-

बीज बोने के बाद जब पौधे निकल आते थे तो उनकी सिंचाई की जाती थी। मज्झिम निकाय में कहा गया है कि तरुण बीजों को समय पर पानी न मिलने पर वे सूखने लगते थे और उनकी बृद्धि नहीं हो पाती थी।[3]

---

१ स० नि० प्र० ७/२/२– पुनप्पुनं चेव वपन्ति बीजं
पुनप्पुन वस्सति देवराजा

२. अंगुत्तर निकाय, चतुर्थ, १०/११/४
उच्छुबीज वा सालिबीजं वा अल्लाय पथविया निक्खित्तं य च पथविरसं उपादियति यं च आपोरस उपादियति/
सव्वं त सातत्ताय मधुख्तायय असेचनकत्ताय संवत्तति/ तं किस्स हेतु/
वीज हि भिक्खवे, भद्दकं/

३ मज्झिमनिकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय १७/१/२
सेप्यथापिभन्ते, बीजानि तरूणानमउदकम् जलमन्तानम्
सियाथन्यथतम् सियानिपरिणामो... ....।

सिंचाई प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों साधनों द्वारा की जाती थी। यद्यपि कृत्रिम साधनों से सिंचाई की जाती थी, परन्तु देश का एक बडा भाग वर्षा के जल पर ही निर्भर था और हमारे प्राचीन साहित्य में वर्षा की प्रतीक्षा करते हुए किसानों से सम्बन्धित अनेक उपमानों एव उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग हुआ है।[१] वर्षारम्भ मात्र से पृथ्वी पर नवजीवन एवं चेतनता का संचार हो उठता था। जैन ग्रन्थ आचारांग सूत्र के अनुसार पावन की प्रथम वृष्टि के साथ ही नाना प्रकार के नए–नए जीवों का उद्भव होता है, नव बीज अंकुरित हो उठते हैं, मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं और सडकों आदि का पहचानना दुष्कर हो जाता है।[२] संयुत्त–निकाय में वर्षा की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि 'वृष्टि माता की तरह आलसी और उद्योगी दोनों की रक्षा करती है, पृथ्वी पर जितने प्राणी बसते हैं, वृष्टि होने से वे सभी जीवन धारण करते हैं![३] वर्षा की इस महत्ता को ध्यान मे रखकर ही कृषक वर्ग वर्षा के लिए सम्यक् पूजा–पाठादि करता था। भाष्य में जप के बाद या सांकल्य की संहिता के पाठ के बाद वर्षा का होना बतलाया गया है। सावन–भादोंके महीनें के पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था। कौटिल्य ने भारत के विभिन्न भागों में वर्षा की विभिन्न मात्रा का उल्लेख किया है।[४] कौटिल्य ने वर्षा सम्बन्धी अन्य बातें भी कही है यह तात्कालिक भारतीय कृषकों के अन्तरिक्ष सम्बंधी पर्याप्त ज्ञान एवं अनुभवो का परिचय देता है।[५]

"वर्षा के अनुपात से ही बीज बोना चाहिए। साठी या धान (शालि), गेहूँ, जौ, ज्वार (व्रीहि), कोदों, तिल, कांगनी (प्रियंगु) और लोभिया आदि वर्षा शुरू होने से पहले ही बो देना चाहिए। मूँग, उड़द और छीमीं आदि को वर्षा के मध्य में बोना चाहिए। कुसुंबी, मसूर, कुल्थी, जौ, गेहूँ,

---

१. रामायण २/११२/१२ "त्वामेव प्रतिकांक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः"/ तथा २/३२/१३

२ आचाराग सूत्र २/३/१–१

३. संयुत्त–निकाय १/१/८/१०

"किंसु अलस अनलस च, माता पुत्त व पोसति।

किं भूता उपजीवन्ति, ये पाणा पाठविं सिता" ति।।

"वृट्ठि अलस अनलसं च, माता पुत्तं च पोसति।

वृट्ठिं भूता उपजीवन्ति, ये पाणा पाठविं सिता" ति।

४. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम; वाचस्पति गैरोला, प्रकरण ४०, अध्याय २४;

५. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्; वाचस्पति गैरोला, प्रकरण ४०, अध्याय २४;

मटर अलसी और सरसों आदि अन्नों को वर्षा के अन्त में बोना चाहिए अथवा इन सभी अन्नों को ऋतु के अनुसार तथा पानी की सुविधा देखकर ही खेतों में बीज बोना चाहिए।"[1]

एक जातक में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वर्षा का आभास होने पर कुछ व्यक्तियों ने कुदाली एवं टोकरी लेकर सेतु निर्माण के लिए प्रस्थान किया[2]। अंगुत्तर निकाय में मेघो के विषय में कहा गया है कि वे चार प्रकार के होते हैं– कुछ बादल केवल गरजते हैं, बरसते नही, कुछ केवल बरसते है, गरजते नहीं, कुछ ऐसे होते हैं जो गरजते भी हैं, बरसते भी हैं और कुछ ऐसे होते है, जो न तो गरजते हैं और न बरसते हैं।[3]

वर्षा के अतिरिक्त नदियाँ, कुएँ, नहरें, बॉध, तालाब आदि भी सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन थे। पाणिनि ने कई बडी–छोटी नदियों के नाम दिऐ हैं जिनमें उन दिनों सिंचाई होती थी। बड़ी–बड़ी नदियों पर बॉध बनाकर उनका जल खेतों की सिंचाई में उपयोग किया जाता था। कौटिल्य ने कहा है "भूमि की सिंचाई के लिए राजा को चाहिए कि नदियों पर बड़े–बड़े बॉध बॅधवाये अथवा वर्षा ऋतु के जल को भी बड़े–बड़े जलाशयों में भरवा दें। यदि प्रजाजन ऐसा कार्य करना चाहते हैं तो राजा को चाहिए कि उन्हें जलाशय के लिए भूमि, नहर का रास्ता और आवश्यकतानुसार लकड़ी आदि सामान देकर उनका उपकार करें।"[4] महासुसीम जातक में

---

१. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, प्रकरण ४०, अध्याय २४;
तत· प्रभूतोदकमल्पोदकं वा सस्यं वापयेत्।
शालिव्रीहिकोद्रवतिलप्रियंगुदारकवरकाः पूर्ववायाः।
मुद्‌गामाषशैम्ब्या अध्यवायाः। कुसुम्ममसूरकुलत्थयव
गोधूमकलायातसीसर्षपाः पश्चाद्वाया·। यथर्तुवशेन वा वीजवायाः।
कर्मोदकमप्रकाणेन कैदारं हैमनं गैण्मक वा सस्यं स्थापयेत्।

२. फॉसबॉल, जि० १, पृ० ३३६, पुरिषेषु कुदालपिटक हत्थेसु आलिभवधनत्थाय निखन्तेसु।

३. अंगुत्तर–निकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वि० ४/११/२
चत्तारोमे भिक्खवे वलाहका। कतमेचत्तारो। गज्जिता नो वस्सिता, वस्सता नोगज्जिता, ने गज्जिता, नेववस्सिता, नगज्जिता च चवस्सिता च।

४. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्; वाचस्पति गैरोला; प्रकारण १७, पृष्ठ नं० ७६

लोगो को हाथो मे टोकरी और कुदाली लेकर बाधों को मजबूत करने के लिए जाते हुए दिखाया गया है। शाक्य तथा कोलिय, कपिलवस्तु और कोलिय–नगर के बीच बहने वाली रोहिनी नदी पर एक ही बॉध बना कर खेती करते थे। जेठ के महीने के अन्त में खेती के कुम्हला जाने पर दोनो नगरवासियों के कर्मकर लोग इकट्ठे हुए। पानी के लिए दोनों पक्षों में विवाद हो गया। महात्मा बुद्ध की मध्यस्थता से संघर्ष टल सका।[१] अतः प्रकट है कि भारतीय कृषक नदियों पर बाँध बनाकर उससे एकत्रित जल से सिंचाई करने की तकनीक से परिचित थे।

मेगस्थनीज लिखता है कि मिस्र की भॉति भारत में भी सिंचाई विभाग के कुछ अधिकारी नदियो की देखभाल तथा भू–मापन किया करते थे। कौटिल्य ने भी इसका समर्थन किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय काठियावाड में निर्मित विशाल बॉध एवं सुदर्शन झील के निर्माण से सिंचाई साधनों के प्रति राज्य के बढते हुए दायित्व का बोध होता है। इन प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि दुर्भिक्ष आदि की सम्भावना समाप्त करने के उद्देश्य से राज्य का यह कर्तव्य होता था कि वह सिंचाई के साधनों के व्यवस्था उत्तम रीति से करें। दुर्भिक्ष आदि आपत्तियॉ बहुधा राजकीय दुर्व्यवस्था तथा कुशासन का ही परिणाम मानी जाती थी।

नदियों के अतिरिक्त कुएँ, तालाब, जलाशय भी सिंचाई के प्रमुख साधन थे। बडे कुओं के अलावा जो कि प्रत्येक गॉव में होते थे, सिचाई के लिए छोटे–छोटे कूप भी आवश्यकतानुसार बना लिए जाते थे। हस्तिनापुर, नई दिल्ली, रूपर, उज्जैन, मथुरा तथा नासिक आदि उत्खननों से ६०० ई० पू० से २०० ई० पू० के मध्य निर्मित अनेक कूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनके विषय में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका उपयोग अधिकतर सिंचाई के लिए होता रहा होगा।

वैदिक काल में कुएँ से पानी ऊपर उठाने के लिए चर्म–रज्जु तथा वाल्टी का प्रयोग होता था परन्तु इस काल में बैलों के सहारे रहट से पानी निकालकर खेतों की सिंचाई करने की प्रथा चल पड़ी। विनय पिटक में कुऐं से पानी निकालने की पूरी व्यवस्था स्पष्ट होती है।

---

१. कुणाल जातक, संख्या ५३६;

साधारण तरीके से रस्सीसे बर्तन बॉध कर पानी निकालने से हाथ दुखने लगता था।[1] इससे बचने के लिए तुला (=ढेकली), करकटक (=पुर) और चक्कवट्टक (=रहट) का प्रयोग किया जाता था।[1] कुँए के ऊपर कोई छाया नहीं होने से सर्दी एवं गर्मी दोनों ही ऋतुऐं सताती थी। इसलिए कूएँ के ऊपर उदवान–शाला (=कुँए पर की छाजन) का निर्माण किया जाता था। कुऑ ढका नहीं रहने से उसमें कूडा–करकट गिर जाता था इससे बचाव के लिए कुँएं के ऊपर पिहान (=विधान टक्कन) की व्यवस्था की जाती थी।[2]

नहरें भी सिचाई की प्रमुख साधन थी। सामूहिक उपयोग की वस्तु होने के कारण नहरों का निर्माण बहुधा सामूहिक श्रम एवं सहयोग के द्वारा होता था। धम्मपद में लोगों के द्वारा नहरों से पानी ले जाने का उल्लेख है।[3] साथ ही तालाब, कुओं, झीलों का निर्माण भी समय–समय पर किया जाता था। थेरीगाथा में उल्लेख है कि तालाबों के जल को बॉध कर खेतों को सींचने के लिए उपयोग में लाया जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति की पर्याप्त अनुकम्पा होते हुये भी भारतीय कृषक मात्र प्रकृति पर निर्भर न रहकर अच्छी फसल के उत्पादन हेतु सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी प्रयोग करते थे।

बीज बोने के पश्चात् उनमें अंकुर आने और पौधों के कुछ बड़े हो जाने पर किसान खेतों की निराई करता था। निराई पौधों के चतुर्दिक उगे हुये घास–फूस और रद्दी पौधों को

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४/५/२/४,
हत्था दुक्खा होन्ति – – पे० – – "अनुजानामि, भिक्खवे, तुलं करकटकं चक्कवट्टक" ति।

२ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १/३/१;
तेन खो पन समयेनं भिक्खू अज्झोकासे उदकं वाहेन्ता सीतेन पि उण्हेन पि किलमन्ति। भगवतो एतमत्थं आरोचेसुं। "अनुजाना, भिक्खवे उदपानसालं ति। उदयानो उपारूतो होति, तिणचुण्णेहि पि पंसुकेहि पि ओकिरिचयति – – – – पे० – – – –" अनुजानामि, भिक्खवे अपिधानं ति।

३. धम्मपदं, पण्डितवग्गो;
उदकं हि नयन्ति नेत्तका।

कुदाली, खुरपी आदि से साफ करके की जाती थी। दीघ–निकाय में खेत की घास–पात साफ करने का उल्लेख आया है।[1] निराई न करने से रद्दी घास–पात अच्छी फसल को हानि पहुँचाते हैं। अंगुत्तर–निकाय मे जौ के साथ एक रद्दी पौधे के उग जाने का वर्णन आया है– "भिक्षुओं जैसे किसी जौ के खेत में दुष्ट जौ, प्रलाप जौ, कूड़ा जौ उग आये, वह देखने में अच्छी जौ के एकदम समरूप हो, लेकिन जब उसकी बालि निकले तो लोग जान पाये कि वह बेकार जौ है। जान लेने पर वे उसे जड़ से उखाड़ कर जौ के खेत से बाहर फेंक देंगे; ताकि यह दूसरे अच्छे जौ को खराब न करे।"[2]

लवनी एवं मणनी

फसल जब पककर पूर्णतया तैयार हो जाती थी तो किसान उन्हे काट लेते थे। इस प्रकार पकी फसल की कटनी को लवनी कहा जाता था एवं कटाई करने वाले लावक या लवक कहलाते थे।[3] कटाई के समय खेत में बहुत से व्यक्ति एक साथ काम करते थे। गहपति जातक में उल्लेख आया है कि सारे ग्रामवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि अब से दो महीने बाद खेत काटा जायेगा।[4] मज्झिम निकाय में कहा गया है कि वर्षा के अन्तिम मास में शरद–काल में (खेत में चारों ओर) फसल भरी रहती है एवं ग्रीष्म के अन्तिम मास में सभी फसल गाँव में चली जाती है।[5]

कटी फसले बोझ में बाँध खलिहान में संग्रहित की जाती थी। तत्पश्चात् धान्य एव भूसे को अलग किया जाता था इसको मणनी या गाहन कहा जाता था। मणनी के लिए पहले फसलों को सुखाया जाता था।[6] विनयपिटक में कहा गया है कि "(फसल) कटवाकर ऊपर लाना चाहिए,

---

१. दीघ–निकाय १/१२/४
२ अंगुत्तर निकाय, हिन्दी अनुवाद खण्ड तृतीय, पृष्ठ २६५;
३. वासुदेव शरण अग्रवाल– पाणिनीकालीन भारतवर्ष पृष्ठ २०३;
४. गहपति जातक, जातक संख्या ११९;
५. मज्झिम–निकाय हि० अ० पृष्ठ ७५;
६. सीधं सीध पुन्ज कारापेत्वा सीधं सीधं पद्दापेय्य
सीधं सीधं पद्जपेत्वा सीधं सीधं पलालानि उद्यपेय्य।
अं० नि० प्र० ३/१०/२

ऊपर ला सीधा करवाना चाहिए, सीधा कर मर्दन (मणनी) करवाना चाहिए, मिसवाकर (मणनी के बाद) पयाल हटाना चाहिए। पयाल को हटाकर भूसी हटाना चाहिये। भूसी हटवाकर फटकवाना चाहिये। हटवाकर (अन्न) जमा करना चाहिए। इसी प्रकार अगले वर्षो में भी काम करवाना चाहिए।"[१]

एक जातक कथा में भी फसल की कटाई एवं मणनी (दौरी करने) की प्रक्रिया का प्रसंग आया है।[२]

तत्पश्चात् लोग अनाज को उठाकर घर लाते थे एवं कोठी में रख देते थे।[३] अनाज का संग्रहण, मिट्टी के बड़े–बड़े पात्रों, जिन्हें डेहरी कहा जाता था, में किया जाता था। मज्झिम–निकाय में नाना प्रकार के अनाजों शाली, व्रीहि, मूँग, उड़द, तिल एवं तंडुल से भरी डेहरी का उल्लेख आया है।[४]

भूस्वामित्व-

यद्यपि 'भू–स्वामित्व' एक विवादास्पद तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है तथापि इस काल में भूमि पर खेती करने वाले तथा राजा दोनों का अधिकार सिद्ध होता है। वस्तुतः भू–स्वामित्व के विकास में दो बातों का महत्त्व रहा है। एक तो राजतन्त्र के कारण राजा का

---

१. लवापेत्वा उब्बाहपेतब्ब। उब्बाहापेत्वा पुञ्जं कारापेतब्बं।
पुञ्जं कारापेत्वा मद्दापेतब्बं। मदापेत्वा बलालानि
उद्धारपेतब्बानि। पलालनि उद्धारपेत्वा मुसिका
उद्धारपेतब्बा। मुसिक उद्धारापेत्वा ओपनापेतब्नं।
ओपुनापेत्वा अतिहरापेतब्बं। अतिहरापेत्वा आयति
पि वस्सं एवमेव कातब्बं, आयति पि बक्सं एवमेव कातब्बं" ति।

२. सकुण जातक, जातक सख्या ३६;

३. अ० नि० प्र० ३/१०/२

४. मज्झिम–निकाय, पट्ठान सुतन्त १/१/१० हि० अ० पृष्ठ ३६,

उस पर अधिकार दूसरी बात यह है कि कृषक का भूमि पर स्वयं व्यक्तिगत् अधिकार था। इस प्रकार सैद्धान्तिक रूप से राजा उसका मालिक था और व्यवहारिक पक्ष यह था कि भूमि अलग–अलग व्यक्तियों के अधिकार क्षेत्र में थी जिसका वे स्वेच्छापूर्वक प्रयोग, आदान–प्रदान एव क्रय–विक्रय कर सकते थे। श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक[१] ने राजकुमार जेत से एक भूखण्ड बडी ऊँची कीमत पर खरीदकर बुद्ध प्रमुख भिक्षु–संघ को दान में दिया। इस पूरी प्रक्रिया में कही भी सम्बन्धित राज्य के शासक की आज्ञा प्राप्त नहीं की गई। बुद्ध काल में सर्वाधिक ख्याति अर्जित करने वाले वैद्य जीवक ने एक आम्रवन का बौद्ध भिक्षुओं को दान किया था।[२] इसी प्रकार वैशाली की गणिका आम्रपाली ने भी अपना आम्रवन बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ को दान में दिया था।[३] जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपनी अन्तिम यात्रा विहार किया था।

अन्यत्र भी जातक कथाओं आदि में भूमि के उपहार तथा दान में दिये जाने का उल्लेख है।[४] कृषि–क्षेत्रों के मालिको के लिए खेत्तपत्ति, खेत्तसामिक एवं वत्थुपति जैसे शब्दो के उल्लेख भी प्रमाणित करते हैं कि कृषक अपने खेतों के स्वामी थे।[५] कृषक अपने–अपने खेतों की सीमायें मेड, बाड़ आदि के द्वारा निर्धारित करते थे। मगध के इसी प्रकार के सीमाबद्ध खेतो का दृश्य भगवान् बुद्ध को बडा आकर्षण लगा था।[६] दीघ–निकाय के अग्गञ्ञ–सुत्त में वैयक्तिक सम्पत्ति की विवेचना के प्रसंग में शालि (धान) की युक्त कृषि भूमि के बँटवारे का सुन्दर वर्णन मिलता है।[७] ये साक्ष्य निजी भूस्वामित्व के सिद्धान्त को पुष्ट करते है। दूसरी ओर राजाओं द्वारा हमें ब्राह्मणों एवं अन्य व्यक्तियों को भूमि एवं पूरे–पूरे गॉव दान करने का उल्लेख प्राप्त होता है। कोसल–राज प्रसेनजित् ने चंकि नामक ब्राह्मण को ओपसाद ग्राम का स्वामी बनाया था।[८] इसी प्रकार प्रसेनजित् ने पौष्कसाति को इच्छानगल गाँव दान स्वरूप दिया था।[९] मगध नरेश

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/३/१;

२. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २०३;

३ दीघ–निकाय, २/३;

४. जातक संख्या ४५६;

५ मिश्र, श्याम मनोहर; प्राचीन भारत मे आर्थिक जीवन, पृष्ठ ७६;

६. विनयपिटक, महावग्ग, ८/४/१;

७. दीघ–निकाय, ३/४;

८. मज्झिम निकाय, हि० अ० पृ० ३६७;

६. दीघनिकाय, हि० अ०, पृष्ठ ३२;

बिम्बसार ने जनकीर्ण, तृण–काष्ठ–उदक–धान्य सम्पन्न, राजभोग्य–राजदाय एवं ब्रह्मदेय खाणुमत गॉव कूटदन्त ब्राह्मण को दिया था।[१] विनय पिटक में मगध नरेश बिम्बसार ८० हजार ग्रामों का स्वामी बताया गया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि यद्यपि राजा समस्त भूमि का स्वामी समझा जाता था परन्तु व्यवहारिक रूप से कृषको को अपनी भूमि पर पूरा अधिकार था। राजा केवल उससे वैधानिक कर लेने का अधिकारी था।[२]

आपदा-

कृषि कभी–कभी प्राकृतिक प्रकोप आदि का शिकार भी बन जाया करती थी। वर्षा न होने पर बडी विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। तीन वर्ष तक सारे काशी राष्ट्र में वर्षा न होने के कारण सारा राष्ट्र अग्नि–दग्ध सा हो गया।[३] इसी प्रकार कोशल देश में पानी न बरसने से अकाल उत्पन्न हो गया।[४] खेतियाँ कुम्हला गई। जहाँ तहाँ स्थित तालाब, पुष्करणियाँ सूख गई। जेतवन पुष्करिणी का पानी भी सूख गया। कौए चील आदि (पक्षी) गहरे कीचड़ में जाकर पड़े हुए मछली, कछुओं को तीर की नोक जैसी अपनी तीखी चोंच से मार मार कर ले जाकर चिल्लाते हुए खाने लगे। इस प्रकार पानी के अभाव में खेती विनष्ट हो जाया करती थी।

बाढ से भी धन–जन की बहुत क्षति होती थी। प्रारम्भिक पालि–साहित्य में बाढ़ के अनेकत्र उल्लेख प्राप्त हुए हैं।[५]

वर्षाकाल में बीजों के बह जाने से अकाल हो गया। विभिन्न फसलों को रोगों से भी बडी क्षति पहुँचती थी। विनयपिटक में कहा गया है "जैसे आनन्द! सम्पन्न (=तैयार) लहलहाते धान के खेत में सेतट्ठिका (=सफेदा) नामक रोग–जाति पलती है – – – –ऐसी ही आनन्द सम्पन्न (तैयार) ऊँख के खेत में मांजेष्ठका (लालरोग) नामक रोग–जाति पलती है, जिससे यह ऊख का खेत चिर–स्थायी नहीं होता।[६]

---

१. दीघ–निकाय, १/५;
२. कैम्ब्रिज हिस्टरी प्रथम, पृ० १७६;
३. जातक सख्या २०४, वीरक जातक,
४ जातक, संख्या ७५; मच्छ जातक;
५. संयुत्त–निकाय, हि० अनु० पृष्ठ ५५
६. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/१/२
"सेय्यथापि, आनन्द, सम्पन्ने सालिक्खेते सेतट्ठिका नाम रोजजाति पितति, एवं तं सलिक्खेत न चिरट्ठितिकं होती;———— सेय्यथापि आनन्द सम्पन्ने उच्छुखेत्ते मञ्जिठिका नाम रोगजाति निपतति, एवं तं सालिक्खेतं न चिरटिठतिकं होति."

इसी प्रकार अगुत्तर–निकाय में भी 'लहलहाते ईख के खेत को लाल रोग नामक रोग लग जाता है, तो ईख का खेत नष्ट हो जाता है' का उल्लेख है।[1]

दीघ निकाय में वर्षा की बिजली के गिरने से दो भाई किसान और चार बैलों के मरने का विवरण है।[2] खेतों में फसलों के बडे और तैयार होने पर पशुओं से उसकी रखवाली करनी होती थी। खेतों में रखवाले रहते थे। संयुत्त–निकाय में रखवाले द्वारा लाठी से बैल को पीटकर खेत से भगाने का उल्लेख है।[3] मज्झिम निकाय में उल्लिखित है कि गोपालकों को अपने पशुओं के प्रति सचेष्ट रहना पडता था। जब तक फसलें रहती थीं उस समय तक पशुओ को गॉवों से सुदूर ले जाकर जंगलों के निकट चराया जाता था।[4]

फसल-

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से हमें तत्कालीन उत्पादों की सूचना यत्र–तत्र बिखरी हुई परन्तु प्रभूत रूप से मिलती है। सबसे ज्यादा लोकप्रिय अनाज धान था[5] जिसके विभिन्न नामों एवं किस्मों शालि,[6] तण्डुल, रक्तशालि,[7] गंधशालि, व्रीहि आदि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त जौ,[8] सावॉ,[9] टॉगुन[10], चीना[11] (=चीनक =चेना) गेहूँ, कोदो[12] आदि की भी खेती होती थी।

---

१. अंगुत्तर–निकाय, हिन्दी अनुवाद, तृतीय भाग, पृष्ठ ३४६,
२ दीघ–निकाय, २/३/८
तेन खो पन समयेन देवे वस्सन्ते देवे गलगलायन्ते विज्जुल्लतासु निच्छरन्तीसु असनिया फलन्तिया अविदूरे मुसागारस्स द्वे कस्सका भातरो हता चत्तारो च बलिबदा।
३. संयुत्त–निकाय, ४/३४/४/४
४. मज्झिम–निकाय, द्वेधावितक्क–सुतन्त; हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ७५;
५. सीहचम्म जातक, जातक संख्या १८६; अनुसासिक जातक जातक संख्या ११५; काक जातक, जातक सख्या १४०,
६. महावेस्सन्तर जातक, संख्या ५४७;
७ असम्पदान जातक, सख्या १३१;
८. सीहचम्म जातक, सख्या १८६,
९. सुत्त–निपात २/२ पृष्ठ ६६
१०. सुत्त–निपात २/२ पृष्ठ ६६
११ सुत्त–निपात २/२ पृष्ठ ६६
१२. मज्झिम निकाय, हि० अ० पृ० ५० दद्दुल कहा गया है।

दालो में मूँग,[1] मटर,[2] उडद[3], मसूर[4], कुल्थी[5] आदि नाम प्राप्त होते है। दाल को यूस या सूप भी कहते थे। विभिन्न प्रकार की शाक–शब्जियों का भी उत्पादन होता था जैसे लौकी[6] कद्दू[7] साग[8], कटहल[9] आदि।

ईख की खेती भी बडे पैमाने पर की जाती थी।१० ईख के रस से बना गुड एक लोकप्रिय मीठा खाद्य था। अर्थशास्त्र में गन्ने से बनने वाले पदार्थो में राभ, गुड़, गुड़खाड़, खॉड एवं शक्कर का उल्लेख आया है।

---

१ अनुसासिक जातक, जातक संख्या ११५; सुत्त–निपात ३/१०;

२ कलायमुटिठ जातक, जातक सख्या १७६; सुत्त–निपात ३/१०;

३ विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/४ हि० अ० पृ० २५०

४. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७, इल्लीस जातक, जातक संख्या ७८

५ पण्णिक जातक, जातक संख्या १०२;

६. कुद्दाल जातक, जातक संख्या ७०;

७. कुद्दाल जातक, जातक सख्या ७०;

८. अम्ब जातक, जातक संख्या १२४, महावेस्सन्तर जातक;

९. विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६, महावेस्सन्तर जातक;

१०. सयुत्त–निकाय १/७/२/३ हि० अ० पृ० १४०;
विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६ हि० अ० २५१

मसालों की भी एक सूची बनायी जा सकती है। मिर्च,[1] पीपल[2], अदरख[3], राई[4], धनियॉ, हल्दी[5], सोंठ, जीरा,[6] कपूर,[7] गुग्गल,[8] हींग[9] कालीमिर्च, केसर,[10] खस[11] आदि का उल्लेख मिलता है। तेल प्राप्त करने वाले पदार्थो मुख्यतः तिल[12] एवं सरसों[13] का प्रयोग होता था इसके अतिरिक्त अरण्डी,[14] अलसी[15] एवं सम्भवतः महुआ[16] से भी तेल प्राप्त किया जाता होगा।

फलों में फल–सम्राट आम्र–फल का तत्कालीन जन–समुदाय शौकीन था। आम एवं इसके वन का जगह–२ उल्लेख आता है।[17]

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/६; कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२;

२. विनयपिटक, महावग्ग ६/१/६,

३ विनयपिटक महावग्ग ६/१/६, लोल जातक, जातक संख्या २७४;

४ महावेस्सन्तर जातक,

५ विनयपिटक, महावग्ग ६/२/१ हि० अ० पृष्ठ २१६, महावेस्सन्तर जातक, सयुत्त निकाय ५/४४/६/६ द्वि अ० पृ० ६७४;

६. लोल जातक, जातक सख्या २७४;

७ महावेस्सन्तर जातक

८ महावेस्सन्तर जातक

६. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/७ द्वि० अ० पृष्ठ २१७;

१०. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४;

११ विनयपिटक, महावग्ग ६/१/३

१२. विनयपिटक, महावग्ग ६/३/११; सुत्तनिपात ३/१०,

१३ विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६/१/६;

१४ कुण्डकपूव जातक, जातक सख्या १०१

१५. दीघ निकाय, ३/७, द्वि० अ० पृ० २६४;

१६. महावेस्सन्तर जातक, जातक सख्या ५४७,
विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६;

१७. अम्ब जातक, जातक संख्या १२४; दधिवाहन जातक जातक संख्या १८६; फल जातक, जातक संख्या ५४, विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६; महावेस्सन्तर जातक।

अन्य फलों में कैथा,[1] महुँआ,[2] ऑवला,[3] खजूर,[4] फाल्सा,[5] नीबू,[6] अंगूर,[7] नारियल,[8] इमली,[9] जामुन,[10] केला,[11] बैर,[12] बेल,[13] पेठा,[14] तरबूज, ककड़ी करौदा, अनार, सिंघाड़ा[15] आदि खाये जाते थे।

---

१. महावेस्सन्तर जातक, सख्या ५४७;

२. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६, महावेस्सन्तर जातक,

३ कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२; सुत्त निपात ३/१० पृष्ठ १७५; विनयपिटक ६/१/६; महावेस्सन्तर जातक;

४ महावेस्सन्तर जातक

५ विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६ हि० अ० पृ० २५१;

६. कुक्कु जातक, जातक सख्या ३६६;

७ वालोदक जातक, सख्या १८३; महावेस्सन्तर जातक;
विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६ हि० अ० २५१;

८ महावेस्सन्तर जातक

६. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४;

१० विनयपिटक ६/६/६;

११. सयुत्त निकाय १/३/२ हि० अ० पृष्ठ ६६

१२ सुत्त–निपात ३/१०

१३. सुत्त–निपात ३/१०

१४. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४;

१५. महावेस्सान्तर जातक, जातक संख्या ५४७,

इसके अतिरिक्त प्याज, लहसुन,[1] ताम्बूल, मूँगफली, भॉग, बॉस,[2] नील,[3] मॅजीठ,[4] नीम,[5] सुपारी,[6] खैर,[7] हर्रे,[8] वहेडा,[9] केसर,[10] लाह,[11] भी तत्कालीन उत्पाद थे।

कपास की खेती भी बडे पैमाने पर की जाती थी। तुण्डिल जातक में हमें वाराणसी के आसपास कपास के खेतो का वर्णन मिलता है। महाजनक जातक में कपास के खेत की रखवाली करने वाली स्त्रियों का उल्लेख है।

बागवानी-

खेती का एक रूप बागवानी भी था। पालि ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के वनों एवं उद्यानों का वर्णन आया है। ये उद्यान अथवा आराम वस्तियों के प्रायः सटे बाहर होते थे। आम्रवन, जम्बूवन, सिसापवन, शालवन, वेणुवन, कदलीवन, मधूकवन जैसे उद्यानों और आरामों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनकी रखवाली के लिए जो व्यक्ति नियुक्त होते थे, उन्हें अम्बपालक, जम्बूपालक, वनपालक एवं आरामपालक की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।[12] स्पष्ट है कि बाग-बगीचे की रखवाली पर बडा ध्यान दिया जाता था। विभिन्न प्रकार के फल देने वाले वृक्षों के अतिरिक्त किंसुक, पाटलि, कदम्ब, सिरिस, जयसुमन जूही, कर्ण्णिकार, ताल और केतक जैसे फूलदारवृक्षों को भी लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त कुसुम्भर, लाख और कपूर की भी खेती होती थी। इन सब फूलों, गन्धों, गोंद तथा रगों को बेचकर जीविका के साधनों को जुटाया जाता था।[13] पुष्प मालाओं की समाज में काफी माँग थी। पूज्य व्यक्तियों की पूजा–अर्चना में तथा सौन्दर्य वृद्धि के लिए बड़े पैमाने पर इसका प्रयोग होता था।

---

१ महावेस्सन्तर जातक, विनयपिटक हि० अ० पृष्ठ ५२;
२. अंगुत्तर–निकाय हि० अ० द्वितीय भाग, पृष्ठ ७५;
३. संयुत्त–निकाय ५/४४/६/६
४. संयुत्त–निकाय ५/४४/६/६
५. दधिवाहन जातक; जातक सख्या १८६;
६. छद्दन्त जातक; जातक संख्या ५१४;
७. सयुत्त–निकाय ५/५४/४/१; महावेस्सन्तर जातक;
८. विनयपिटक, हि० अ० पृष्ठ २१७; महावग्ग ६/१/६
६. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/६;
१०. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४;
११. संयुत्त–निकाय ५/४४/६/६ हि० अ० पृष्ठ ६७४;
१२. प्रभा त्रिपाठी, पूर्वोत्तर भारत, पृष्ठ २७८;
१३. जातक, फॉसबॉल संस्करण, जि० १, पृ० १४६, ३१३;
जि० २, पृ० १०५–१०६; जि० ३, पृ० १८३;
जि० ४, पृ० ६२, २५६; जि० ५, पृ० ३७–३८;
जि० ६, पृ० ५५, ५३०, ५३६;

पशुपालन

पशुपालन विश्व का प्राचीनतम व्यवसाय है। लिखित इतिहास के बहुत पहले से ही विविध कोटि के पशुओं को पालतू बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। पहले भोजन और वस्त्र के लिए पशुओं का अनियंत्रित शिकार किया जाता था। सम्भवतः नवपाषाण काल में कृषि के साथ–साथ पशुपालन भी आरम्भ हुआ। एक साथ दो साधनो के विकास के फलस्वरूप मानव को जीविका का सुनिश्चित आधार प्राप्त हुआ, ऐसा पुराविदों का मत है। महात्मा बुद्ध के समय तक जनसामान्य के साथ राज्य के लिए भी पशुओं की महती उपयोगिता स्पष्ट हो गयी थी। परन्तु अब भी यज्ञ, मॉस आदि के लिए बड़े पैमाने पर उनकी हत्या की जाती थी। यज्ञों में सैकड़ों निर्दोष पशु देवताओं की बलि के रूप में भेंट चढ़ा दिये जाते थे। इसलिए महात्मा बुद्ध ने ऐसे यज्ञों का स्थान–स्थान पर विरोध किया। कूटदन्त ब्राह्मण ने महायज्ञ का आयोजन किया। सात सौ बैल, सात सौ बछडे, सात सौ बछड़ियॉ, सात सौ बकरियाँ, सात सौ भेड़ें यज्ञ के लिए स्थूल (=खम्भा) पर लाये गये थे।[1] परन्तु महात्मा बुद्ध ने 'ऐसे यज्ञ जिसमें गाये नहीं मारी गई, बकरी, भेड़े नहीं मारी गई, मुर्गे सुअर नहीं मारे गये, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गये। न यूप (=यज्ञ स्तम्भ) के लिए वृक्ष काटे गये। न पर–हिंसा के लिए दर्भ (=कुश) काटे गये। जो भी

---

१. दीघ–निकाय, कुटदन्त–सुत्त, १/५

तेन खो पन समयेन कूटदन्तस्स ब्राह्मणस्य महायञ्जो उपक्खटो होति। सत च उसमसतानि, .. बच्छतरसतानि सत्त च बच्छतरीसतानि, सत्त च अजसतानि, सत्त च उरटभसतानि घूणूजीतानि होन्ति यञअत्याय।

उसके दास, प्रेष्य (=नौकर), कर्मकार थे, उन्होंने भी दण्ड–तर्जित, अश्रुमुख, रोते हुए सेवा नहीं की। – – – घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, खांड (=फाणित) से वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।[1] इस प्रकार के यज्ञ का अनुमोदन किया। भगवान बुद्ध द्वारा समझाये जाने पर कूटदन्त ब्राह्मण कहता है, है गौतम यहॉ मैं सात सौ बैलों, सात सौ बछड़ों, सात सौ बकरों, सात सौ भेड़ों को छोडवा देता हूँ, जीवन–दान देता हूँ , (वह) हरी घासें चरें, ठन्डा पानी पीवें, ठंडी हवा उनके (लिए) चले।'[2] इसी प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में स्थान–स्थान पर पशु–वध का पुरजोर विरोध किया गया है। इसी प्रकार कोशलराज प्रसेनजित् की ओर से एक महायज्ञ होने वाला था। पाँच सौ बैल, पॉच सौ बछड़े, पाँच सौ बछड़ियाँ पाँच सौ भेड सभी यज्ञ के लिए थूण मे बँधे थे। ये देखकर भगवान बुद्ध ने कहा–

अश्वमेध, पुरुषमेध, सम्यक पाश, वाजपेय,
निरर्गल और ऐसी ही बड़ी–बड़ी करामातें,
सभी का अच्छा फल नहीं होता है।

भेड़,बकरे और गौवें तरह–तरह के जहाँ मारे जाते है,
सुकर्म पर आरूढ़ महर्षि लोग ऐसे यज्ञ नहीं बताते।[3]

---

१. दीघ–निकाय, कुटदन्त सुत्त, हि० अनु० पृष्ठ ५३; १/५

२. दीघ–निकाय, १/५/२;
"एसाहं, मो गोतम, सत्त च उसभसतानि सत्त च वच्छंतरसतानि सत्त च वच्छतरीसतानि सत्त च अजसतानि सत्त च उरब्भसतानि मुञ्चामि, जीवितं देभि। हरितानि चेव तिणानि खादन्तु, सीतानि च पानीयनि पिबन्तु, सीतो च नेसं वातो उपवायतू।"

३. संयुत्त–निकाय, यञ्ञ सुत्त, १/३/१/६;
तेन खो पन समयेन रञ्जो पसेनदिस्स कोसलस्स महायञ्ञो पच्चुपट्ठितो होति, पञ्च च उसभतानि पञ्च च वच्छतरसतानि पञ्च च वचछतरिसतानि पञ्च च अजसतानि पञ्च च उरब्भसतानि थूणूपनीतानि होन्ति अञ्ञत्थाय।
अस्समेध पुरिसमेधं सम्मापासं वाजपेय्य।
निग्गलं महारब्भा, न ते होन्ति महाप्फला।।

भारत में वर्ण व्यवस्था के प्रारम्भ के साथ कृषि कार्य मुख्यतः वैश्यों से ही सम्बन्धित रखा गया था। परन्तु इस सम्बन्ध में किसी कठोर नियम का पालन नहीं किया जाता था। अन्य सभी वर्णों के लोग भी पशुपालन करते थे। धूमकरी नामक ब्राह्मण बकरियों का एक बडा रेवड ले, जगल मे उन्हें एक जगह रख – – – – – बकरियों को पालता हुआ तथा दूधादि खाता हुआ रहता था।[१] धम्मपद के चीनी संस्करण की सूचनानुसार गृद्धकूटपर्वत की ढलान पर स्थित सत्तर ब्राह्मणों का परिवार अपनी जीविका हेतु पशुपालन का कार्य करता था। राज दरबार द्वारा बडी संख्या में पशुओं का पालन किया जाता था। राज्य की ओर से पालने वाले पशुओं में हाथी, घोडे महत्वपूर्ण स्थान रखते थे परन्तु इसके साथ गाय–बकरी आदि का भी पालन होता था। लोसक जातक में राजा द्वारा बकरी पाले जाने का उल्लेख मिलता है।[२] राजा अपनी कोष–वृद्धि के लिए पशुपालन और पशुओं के वैज्ञानिक प्रजनन पर बल देता था।[३] सेट्ठि लोग व्यापार के अतिरिक्त अपने पास पशु समूह को भी पालते थे।[४]

विवेच्यकालावधि के साक्ष्यों में पशुओं के विषय में प्राप्य विवरण निम्नवत् है–

गाय-

गाय का पशुओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान था। गाय से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी और घी से मण्ड आदि पौष्टिक पदार्थ प्राप्त होता था।[५] देश में पंच गोरसो की कमी नहीं थी।[६] गाय के दूध से अनेक औषधियों का निर्माण होता था। गाय का गोबर भी पवित्र माना जाता था। वह घर की फर्श एवं दीवारों को लिपने–पोतने के काम आता था। गाय की चर्बी एवं खाल के भी विविध प्रयोग थे। क्रय–विक्रय की मानक वस्तु के रूप में

---

१. धूमकारी जातक, संख्या ४१३,

२. लोसक जातक

३. जातक, फॉसबॉल, जिल्द १, पृ० २४०;

४. जातक, जिल्द ४, पृ० ३३२;

५. विनयपिटक, महावग्ग; ६/६/३; संयुत्त–निकाय ३/३३/१; दीघ–निकाय १/६/३/४;

६. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५१४,

भी गाय का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के मंत्र में कहा गया है "मेरी यह इन्द्र की प्रतिमा को दस गायों में कौन खरीदेगा" गाय को बौद्ध साहित्य में जगह–जगह अघन्य कहा गया है "ब्राह्मणों द्वारा समझाये जाने पर रथपति राजा ने यज्ञ में लाखों गौवों का वध किया। जो गौवे न पैर से, न सीग से और न किसी अंग से हिंसा करती है, जो भेड़ के समान सीधी है और घडे भर दूध देने वाली है, उन्हे सींगो से पकड़ कर राजा ने शस्त्र से मार।[१]" गायें हमारे लिए परम आदरणीय है "जैसे माता–पिता, भाई या अन्य भाई–बन्धु है, वैसे ही गौवें हमारी परम मित्र हैं जिनसे कि औषधियॉ उत्पन्न होती है। ये अन्न, बल, वर्ण (=रूप) तथा सुख देने वाली हैं।"[२] सुत्तनिपात के धनियसुत्त से यह प्रतीत होता है कि, अच्छी नस्ल के पशुओं को तैयार करने के लिए अच्छे सॉडों को भी रखा जाता था।

बैल-

कृषि सम्बन्धी विवेचन में हम देख चुके हैं कि हल को चलाने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध साहित्य में जगह–जगह हल खींचते बैलों का दृश्य दिखाई देता है। कृषि कर्म के लिए बैलों की आवश्यकता थी। गामणीचण्ड नामक राजा के सेवक ने जब कृषिकर्म करने की ठानी तो बैलों के न होने के कारण उसने अपने मित्र से दो बैल मॉगे।[३] संयुत्त निकाय मे प्राणियों में बैल को मनुष्य के कार्य में सहायक कहा गया है। हल चलाने के अतिरिक्त बोझा ढोने में भी बैलों का प्रयोग होता था।

---

१. ततो च राजा सञ्चतो, ब्राह्मणेहि रथेसभो।
नेकसतसहस्सियो गावो, यञ्जे अघातीय
न पाढा न विसाणेन, नास्सु हिसन्ति केनचि।
गावो एलकसमाना, सोरता कुम्भदूहना
ता विसाणे महेत्वान, राजा सत्थेन घातयि।
सुत्त–निपात, २/७

२. यथा माता–पिता भ्राता, अञ्जे वापि च आतका
वावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओमधा
अन्नदा बलढा चेता वण्णढा सुखढा तथा
एतमत्थवसं अत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते।
सुत्त–निपात, २/७

३. जातक, गामणीचण्ड जातक २५७

कृषि के साथ–साथ व्यापार में भी बैलों की उपयोगिता कम नहीं थी। हम पूरे बौद्ध साहित्य में व्यापार हेतु व्यापारियों की पाँच सौ गाडियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए पाते है। इन गाडियों को खींचने के लिए प्रायः बैलों का ही उपयोग किया जाता था। अंसकिय जातक में बैलगाड़ियों के साथ यात्रा करने का उल्लेख है[1] इसी प्रकार अनुसांसिक जातक में भी राजमार्ग पर जाने वाली बैलगाड़ियों का उल्लेख है।[2] बैलों का चर्म भी विविध रूप में उपयोगी थी। मज्झिम निकाय में बैल के चमड़े के बिछोने का प्रसंग आया है।[3]

घोड़ा-

घोडा का प्रयोग मुख्यतः रथ खींचने के लिए, पीठ पर सवारी के लिए एवं युद्ध में होता था। श्रेष्ठ घोडे से युक्त रथ की सवारी बडे शान की बात होती थी।

राजदरबार द्वारा बड़ी संख्या में घोड़े पाले जाते थे। घोड़े के लिए अलग चरवाहा होते थे।[4] जो उनकी सेवा किया करते थे।

उत्तरापथ के घोड़े अच्छे मोने जाते थें[5] उत्तरापथ जनपद के पाँच सौ घोड़ो को व्यापारी द्वारा वाराणसी लाकर वाराणसी में बेचने का उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

युद्ध के लिए भी घोड़े बडे उपयोगी थे।[7]

---

१. अंसकिय जातक

२ जातक, संख्या ११५; अनुसासिक जातक;

३. मज्झिम–निकाय, महासीहनाद सुत्त, १/२/२; हि० अ० पृष्ठ ४८

४. जातक, सख्या २५५;

५. वालोदक जातक, संख्या १८३,

६. सुहनु जातक, सख्या १५८; कुण्डककुच्छि सिन्धव जातक संख्या २५४;

७. जातक संख्या ५०६, चम्पेय्य जातक;

रथ में जोतने के अतिरिक्त घोड़े के पीठ पर सवारी करने की बात भी ज्ञात होती है।[१] अगुत्तर निकाय में उल्लेख है कि घोड़ों को भलीभाँति प्रशिक्षण दिया जाता था।[२]

इसके अतिरिक्त घोडे बोझा ढोने के भी काम आते थे।[३]

हाथी-

हाथियों का उपयोग सवारी एवं युद्ध के लिए होता था। इसके अतिरिक्त हाथी दाँत एक कीमती वस्तु थी। दीघनिकाय में राजा अजातशत्रु द्वारा पाँच हाथियों के समूह के साथ नगर के बाहर जाने का उल्लेख मिलता है।[४] हाथियों को राजकीय संरक्षण प्राप्त होता था।[५] अंगुत्तर–निकाय में राजकीय हाथी के गुणों का विस्तार से वर्णन है।[६]

युद्ध में इन हाथियों की बड़ी उपयोगिता थी।[७] कौटिल्य ने हाथियों को राजा की विजय का एक प्रमुख साधन माना है।

हाथी का उपहार बहुत मूल्यवान समझा जाता था। सेल्यूकस से सन्धि के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे ५०० हाथी दिए थे।

हाथी के साथ–साथ उसका दाँत भी मूल्यवान था। जिससे चूड़ी आदि विभिन्न वस्तुओं का निर्माण दन्तकार करते थे।[८]

हाथियों के प्रशिक्षण का एक अलग शिल्प था। बौद्ध साहित्य में स्थान–स्थान पर हस्ति–शिल्प एवं हस्ति शिक्षकों का उल्लेख आया है।[९]

---

१. रूहक जातक, सख्या १९१; महाअस्सारोह जातक, संख्या ३०२,

२. अगुत्तर–निकाय, द्वितीय पृष्ठ ३६३;

३. अनुसासिक जातक, संख्या ११५;

४. दीघ–निकाय, सामञ्अफल सुत्त १/२

५. जातक सख्या १८२;

६. अंगुत्तर–निकाय, द्वितीय, पृष्ठ ३६३,

७. सङ्गामावचर जातक, संख्या १८२;

८. कासाव जातक; सख्या २२१

९. जातक, संख्या १८२; उपाहन जातक, संख्या २३१;

भेड़-

भेड अपने बालों के लिए विशेष रूप से उपयोगी थी। भेड के बाल से ऊन तैयार किया जाता था। अष्टाध्यायी में भेड़ के बाल से बने कम्बल का उल्लेख है। विनयपिटक में भेड के ऊन के बने आसन एवं कम्बल का प्रसंग आया है।[१] अन्यत्र भी इससे बने ऊनी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।

भेड़ों के चारवाहों का भी उल्लेख मिलता है।[२] भेड़ का मॉस खाया भी जाता था।

इन उपर्युक्त पशुओं के अतिरिक्त जिन पशुओं के पालन का उल्लेख मिलता है उनमें गधे, बकरी, ऊँट, कुत्ते एवं सुअर आते हैं। बोझा ढोने के लिए गधा रखा जाता था। जातक में एक राजा द्वारा पॉच सौ गधों के समूह को पाले जाने का उल्लेख मिलता है। बनिये द्वारा गधे पर बोझ लाद कर समान बेचते हुए घूमने का भी उल्लेख मिलता है।[३]

भारवाही पशुओं में ऊँट भी महत्वपूर्ण था। जैन आगमों से ऊँट द्वारा माल ढोनें की बात स्पष्ट होती है।[४]

पालतू पशुओं में कुत्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। जब राजा शिकार करने निकलता था तो कुत्ते उस कार्य में इसकी सहायता करते थे।[५] कुक्कर जातक से स्पष्ट है सुरक्षा के लिए राजपरिवारों में भारी संख्या में कुत्ते पाले जाते थे।[६]

---

१. विनयपिटक, हि० अ० पृष्ठ १६;

२. जातक संख्या ४२६, दीपि जातक;

३. जातक संख्या, १८६, सीहचम्म जातक

४. जैन जगदीश चन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८०

५. जातक संख्या ५०४, भल्वाटिक जातक;

६. कुक्कर जातक;

बकरी की भी बडी ही उपयोगिता थी। धूमकरी जातक से ज्ञात होता है कि लोग उसके दूध पर जीवन यापन करते थे।[1]

सुअर पालन भी प्रचलित था। इसके बाल, मॉस, और चर्म की उपयोगिता थी, दीघ निकाय से स्पष्ट है कि इसके पालक इसको चराने के लिए एक गॉव से दूसरे गॉव जाया करते थे।[2] इसी ग्रन्थ में वर्णन आया है कि चुन्द कर्मार पुत्र ने सुअर से तैयार व्यंजन से महात्मा बुद्ध सहित भिक्षु संघ को भोजन कराया था।[3]

पशुओं को चराने वाले चारवाहे या गोपालक कहे जाते थे। विशाल पशु–समूह को एक स्थान पर बॉधकर नहीं खिलाया जा सकता था बल्कि उन्हें घूम–घूम कर चराया जाता था। पशुपालकों द्वारा अपने–अपने पशुओं को लेकर प्रायः जंगल में जाने का उल्लेख मिलता है।[4]

कृषि विस्तार के कारण गॉव की गोचर भूमि में चराना बहुत सुगम नहीं रह गया था। यही कारण है कि चारवाहे मुक्त–विचरण के लिए वनों की ओर जाते दिखाई देते हैं।

गोपालक हाथ में डंडे के सहारे पशु–समूह को एकत्र करता था। धम्मपद के दण्डवग्ग में कहा गया है जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चरागाह ले जाता है, वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है।[5] नन्द ग्वाला भगवान बुद्ध की शरण में जाना चाहता था। परन्तु संसारिक दायित्व एवं शिष्टचार का ज्ञान रखने वाले भगवान् बुद्ध ने उससे कहा–

"नन्द! तो तुम अपने मालिक की गायें लौटा आओ।

भन्ते! अपने बच्चों के प्रेम में गायें लौट जायेगीं।

---

१. धूमकरी जातक, संख्या ४१३;

२. दीघ–निकाय; पायासिराजञ्ञ–सुत्त; २/१०/हि० अनु० पृष्ठ २०८;

३. दीघ–निकाय, २/३ हि० अ० पृष्ठ १३६;
अथ खो चुन्दो कम्मारपुत्तो तस्सा रत्तिया अच्चयेन सके निवेसने पणीतं खादनीयं भोजनीय
पटियादापेत्वा पहूतं च सूकरमद्दव भगवतो कालं आरोचापेसि– " कालो, भन्ते, निटिठतं भन्तं" ति।

४. जातक सख्या ४१३; जातक संख्या ३४६ सन्धिभेद जातक;

५. धम्मपद, दंडवग्गो,
यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं।
एवं रजा च मचू च आयं पाचेन्ति पाणिनं।

नन्द! तुम अपने मालिक को गाये लौटाकर ही आओ।"

जब नन्द ग्वाला अपने मालिक को गायें लौटा कर आया, तभी भगवान् बुद्ध ने उसे अपनी शरण में लिया।[1]

सन्धिभेद जातक में एक ग्वाले द्वारा गाभिन गौ को जंगल में भूल जाने का उल्लेख मिलता है।[2] जैन सूत्रों के अनुसार किसी-किसी गृहस्थ के पास भिन्न-भिन्न जाति की गायें रहती थी। यह संख्या इतनी अधिक थी कि गायें दूसरी जाति की गायों में मिल जाती थी और ग्वाले उनके लिए आपस में लडते झगडते रहते थे। इस विवाद के निपटारे के लिए गृहस्थ विभिन्न रंगों वाली गायों को अलग-अलग ग्वालों के आधीन रखने लगे।

चतुर गोपालक अपने पशु-समुदाय को कुशलता पूर्वक नदी पार कराने की कला में पारंगत होता था। यह बात मज्झिम-निकाय के चूल-गोपालक सुतन्त में मिलती है।[3]

"भिक्षुओं! पूर्वकाल में मगध के रहनेवाले एक मूर्ख गोपालक ने वर्षा के अन्तिम मास में शरदकाल में, गंगा नदी के इस पार बिना सोचे, उस पार को बिना सोचें बेघाट ही विदेह (देश) की ओर दूसरे तीर को गायें हॉक दी। तब भिक्षुओं! वह गायें गंगा नदी के स्रोत के भॅंवर पडकर विनाश को प्राप्त हो गई। - - - -पूर्वकाल में एक मगधवासी बुद्धिमान ग्वाले ने वर्षा के अन्तिम मास में शरद काल में गंगा नदी के उस पार को सोचकर घाट से उत्तर से उत्तर तीर पर विदेह की ओर गाये हाँकी। उसने जो वह गायों के पितर, गायों के नायक वृषभ (=सॉंड) थे उन्हें पहिले हाँका०। वह गंगा की धार को तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक दूसरे पर चले गये। तब उसने दूसरी बलवान शिक्षित गायों को हाँका०। फिर बछड़े और बछियों को हॉका०। फिर दुर्बल बछड़ों को०। भिक्षुओं! उस समय तरुण कुछ ही दिनों का पैदा एक बछड़ा भी माता की गर्दन के सहारे तैरते गंगा की धार को तिरछे काटकर स्वस्तिपूर्वक पार चला गया।"

---

१. संयुत्त निकाय ४/३४/४/४/४

२. सन्धिभेद जातक;

३. मज्झिम-निकाय, चूल-गोपालक सुतन्त;

खेतों में फसलों के बड़े और तैयार होने पर गोपालकों को अपने पशुओं के प्रति विशेष सचेष्ट रहना पड़ता था। जब तक खेत में फसले रहती थी उस समय तक पशुओं को गॉवों से सुदूर ले जाकर जंगलों में चराया करते थे।[१] एक जातक कथा में उल्लिखित है कि एक ग्वाला घनी खेती के दिनों में गौओं को ले, अरण्य में जा, वहॉ मचान बनाकर, गौओं की रखवाली करते हुए रहने लगा। लापरवाही होने पर पशुओं द्वारा फसलें नष्ट कर दी जाती थी। फसलों की कटाई के बाद जब गाँव से समीप की भूमि फसल रहित हो जाती थी तब सभी पशुओं को गॉवों के समीप ही चराया जाता था।[२]

कभी–कभी चारवाहों की अचैतन्यता से पशु–समूह आपस में लड़ भी जाते थे। गडेरिये की लापरवाही के कारण गोचर–भूमि में भेड़े लड़ने लगी।[३]

मज्झिम निकाय में गोपालकों के ११ गुणों का बहुत सुन्दर वर्णन मिलता है जिससे स्पष्ट होता है गोपालक बडा चतुर एवं जागरूक होता था तथा पशु सुरक्षा की पूरी जिम्मेदारी निभाता था। "भिक्षुओं! ग्यारह बातों (=अंगों) से युक्त गोपालक गोयूथ की रक्षा के अयोग्य है कौन से ग्यारह?"

(१) गोपालक रूप (=वर्ण) का जानने वाला नहीं होता;

(२) लक्षण (चिन्ह) में भी चतुर नहीं होता;

(३) काली मक्खियों को हटाने वाला नहीं होता;

(४) घाव का ढॉकनेवाला नहीं होता;

(५) धुऑ नहीं करता;

(६) तीर्थ (=जल का उतार) नहीं जानता;

---

१. मज्झिम–निकाय, द्वेधावितक्क–सुत्तन्त, हिन्दी अ० पृष्ठ–७५;

२. वही, पृष्ठ ७६;

३. जातक संख्या ४८१, तक्कारिय जातक;

(७) पान को नही जानता;

(८) वीथी (=डगर) को नहीं जानता;

(९) चारागाह का जानकार नही होता,

(१०) बिना छोड़े (सारे) दूध को दूह लेता है,

(११) जो वह गायों के पितर गायों के स्वामी वृषभ (=सॉड़) है उनकी अधिक पूजा (=भोजनादि प्रदान) नहीं करता।

स्पष्ट है कि उन ग्याहर बातों से युक्त पशुपालक पशु–समूह की रक्षा कर सकता है।

अर्थशास्त्र में गोऽध्यक्षः नामक अध्याय में पशु हित में कौटिल्य ने विस्तृत निर्देश दिये है 'गोपालको को चाहिए कि वे बछडों, बीमार और बूढे पशुओं की उचित परिचर्या करें। गोपालकों को चाहिए कि वे शिकारियों, बहेलियों, चोरों, हिंसकों और शत्रु की बाधाओं आदि से सावधान रह कर ऋतु के अनुसार सुरक्षित जंगलों में गायों को चराये। सर्प एवं हिंसक पशुओं को डराने के लिए, चारागाह में गाय की पहिचान के लिए और घबड़ाने वाले पशुओं की गर्दन में लोहे की घंटी बॉध देनी चाहिए। पशुओं को पानी पिलाने एवं नहलाने के लिए ऐसे स्थान में उतारना चाहिए, जहॉ चौरस घाट बने हों और दलदल एवं हिंसक जलचर जन्तु दोनों न हों, गोपालक पूरी सावधानी से उनकी रक्षा करता रहे। गोपालकों का कर्तव्य है कि वे चोर, व्याघ्र, सॉप एवं नाक्व आदि से आक्रान्त और बीमारी तथा बुढ़ापे से मरे हुए पशुओं की सूचना अध्यक्ष को दें, अन्यथा मृतपशु के नुकसान का दायित्व उन पर समझा जायेगा।'[२]

---

१. मज्झिम–निकाय; महा–गोपालक–सुत्तन्त १/४/३
"एकादसहि, भिक्खवे, अङ्गेहि समज्नागतो गोपालको अभब्बो गोगणं परिहरितुं काति कातुं। कतमेहि एकादसहि? दूध भिक्खवे, गोपालको न रूपञ्ञू होति, न लक्खणकुसलो होति, न आसाटिक होरेता होति, न वणं पटिच्छादेता होति, न घूमं कत्ता होति, न तित्थं जानाति, न पीतं जानाति, न वीथिं जानाति, न गोचरकुसलो होति अनवसेसदोही च होति, ये ते उसमा गोपितरो गोपरिणायका ते न अतिरेक–पूजाय पूजेता होति।"

२. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्; वाचस्पति गौरोला प्रकारण ४५, अध्याय २९

विदेह राज्य स्थित पर्वतराष्ट्र के धर्म कौण्डिन्य नगर के धनिय नामक ग्वाला अपने व्यवसाय से पूर्ण रूपेण सन्तुष्ट था। वह पशु–समूह सहित अपने परिवार एवं सश्रम जीवन का बडा मनोरम वर्णन करता है। "डॅस यहॉ नहीं है, कछार में उगी हुई घासों को गौवें चरती हैं, – – – – मेरी ग्वालिन आज्ञाकारिणी और चंचलता रहित है, – – – मैं स्वयं कमाकर खाता हूॅ मेरे पुत्र भी अनुकूल और नीरोग हैं, – – – – मेरे पास बछडे हैं, दुधारू गायें हैं, गाभिन और तरुण गायें भी हैं, गायों का पति सॉड भी है – – – – अचल खूॅटे गडे हैं, मूॅज की नई बनाई गई रस्सियॉ है, उन्हें तरुण बछड़े भी नहीं तोड सकते हैं।"[१] इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट है अच्छी नस्ल के बछड़े पैदा हो इसके लिए ग्वाले सॉंड़ भी पालते थे।

कहीं–कहीं बड़ी संख्या में पशु–सम्पत्ति के मालिको का भी उल्लेख मिलता है। जिनके पास ढेरों ग्वालें एवं दुधारू पशु रहते थे। मेडक गृहपति ने भिक्षु–संघ सहित भगवान् बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रित किया। तब मेंडक गृहपति ने दासों एवं कर्मकरों को आज्ञा दी "तो भणे! बहुत सा लोन, तेल, मधु, तंडुल और खाद्य गाड़ियों पर लादकर आओ। साढ़े बारह सौ ग्वाले भी, साढे बारह सौ धेनु (=दूध देनेवाली) गायों को लेकर आवें जहाँ हम भगवान् को देखेंगे, वहाँ गर्मधारवाले दूध के साथ भोजन करायेंगे।"[२]

---

१. सुत्त–निपात धनियसुत्त १/२

अधकमकसा न विज्जरे (इति धनियो गोयो), बच्छे सल्ततिणे चरन्ति गावो।– – – –

गोपी मम अस्सवा अलोला (इति धनियो गोपो), दीघरत्तं संवासिया मनापा। – – – –

अत्तवेतनमतो हमस्नि (इति धनियो गोपो), पुत्ता च मे समानिया अरोगा।– – – – ––

अत्थि वसा अत्थि धेनुपा (इति धनियो गोपो) गोधरणियो पवेणियो' पि अत्थि – – – –

खीला निखाता अंसपवेधी (इति धनियो गोपो) दामा मुंजमया नवा सुसंठाना।

नहि रूक्खिन्ति धेनुपा' पि हेतुं, – – – – ––।

२. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/३

अध्याय-४

उद्योग एवं व्यवसाय

उद्योग एवं व्यवसाय

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य अपने समय में प्रचलित व्यवसायों एवं उद्योगों की स्थिति पर प्रकाश डालता है। इससे स्पष्ट होता है कि अनेक व्यवसायों/उद्योगों में लोगों ने प्रवीणता हासिल की, नये जीवकोपार्जन के साधनों का जन्म हुआ। शिल्पकार स्थानीय वर्ग के रूप में स्थापित हो रहे थे। प्रायः लोग पॅतृक व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे लेकिन यह कोई निश्चित नियम नहीं था। सुत्त–पिटक में एक ऐसी क्षत्रिय का उल्लेख है जो पहले कुम्भकार था, बाद में उसने रसोइये एवं मालाकार का व्यवसाय अपनाया।

भिन्न–भिन्न शिल्पों (विद्या/कला) को सीख कर लोग उसे जीवन यापन के साधन के रूप में अपनाते थे। भगवान् बुद्ध ने कहा था दस ऐसे बातें है जिन्हें पहले न करके पीछे आदमी पछताता है।[१]

सक्यरूपं पुरे सन्तं मया सिप्पं न सिक्खितं
किच्छा वुत्ति असिप्पस्स इति पच्छानुतप्पति।।
(मैंने पहले सामर्थ्य रहते कोई शिल्प नहीं सीखा।
'शिल्प–रहित का जीविका चलाना कठिन होता है'
सोच बाद में वह पश्चाताप करता है)

---

१. जनसघ जातक, जातक संख्या ४६८;

युवक जीवक कौमार–भृत्य ने विचार किया "बिना शिल्प के जीविका करना मुश्किल है। क्यों न मैं शिल्प सीखूँ।" ऐसा विचार कर जीवक अभय राजकुमार की बिना आशा लिये सुविख्यात वैद्य से वैद्यक–शिल्प की शिक्षा लेने राजगृह से तक्षशिला के लिए प्रस्थान किया।[१] प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न व्यवसायों का अलग–अलग उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया जा रहा है–

धातु कर्म

लौह धातु -

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से लोहा एवं उससे निर्मित अनेक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। जीवन के सभी क्षेत्रों– आर्थिक, सामाजिक, सामरिक दृष्टि से लोहा अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर रहा था। बौद्ध ग्रन्थों में मुख्यत विनयपिटक से ज्ञात होता है कि लौह–पात्रों का बौद्ध भिक्षुओं के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। भगवान बुद्ध ने स्थान–स्थान पर भिक्षुओं को बहुमूल्य धातुओं से दूर रहने एवं लौह एवं मिट्टी के पात्रों के प्रयोग की अनुमति दी है। "भिक्षुओं! सुवर्णमय पात्र नहीं धारण करना चाहिये, रौप्यमय०, मणिमय०, वैदूर्यमय०, स्फटिकमय०, कंसमय, कॉचमय, रॉगे का०, सीसे का, तार्मलोह (=तॉबा) का – – – –दुष्कृत' – – –। भिक्षुओं! लोहे के और मिट्टी के – दो पात्रों की अनुज्ञा देता हूँ"[२]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१ हि० अ० पृ० २६७;
अथ खो जीवकस्स कोमारमच्चस्स एतदहोसि– "इमानि खो राजकुलानि न सुकरानि असिप्पेन उपजीवितु। यन्नूनाहं सिप्पं सिक्खेय्यं" ति। तेन खो पन समयेन तक्कसिलायं दिसापामोक्खो वेज्जो पटिवसति अथ खो जीवको कोमार मच्चो अभयं राजकुमारं अनापुच्छा येन तक्कसिला, तेन पक्कामि।

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/१० हिन्दी अनुवाद ४२३,
"न भिक्खवे, सोवण्णमयो पत्तो धारेतब्बो– – – न वेलुरिथमयो पत्तो धारेतब्बो – – न फलिकमयो पत्तो धारेतब्बो – – न तिपुमयो पत्तो धारेतब्बो – – न सीसमयो पत्तो धारेतब्बो – – न तम्बलोहमयो पत्तो धारेतब्बो। यो धारेय्य, आपत्ति दुक्कटस्स। अनुजानामि, भिक्खवे, पत्ते– अयोपत्तं, मत्तिकापत्तं" ति।

भगवान ने लोह–कुंभ, लोह–भाणक, लोहवारक, लोह कटाह, वासी (वसूॅला) फरसा, कुदाल, निखादन (रखने का औजार) भिक्षुओं को अपने पास रखने की आज्ञा दी थी।[1] वैदिक साहित्य मे पानी इकठ्ठा करने के लिए 'कुम्भ' नाम के पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है। भिक्षुओं द्वारा प्रयुक्त लोहकुम्भि सम्भवतः घट आकृति का पात्र रहा होगा।[2]

जातक[3] एवं सुत्त–निपात[4] मे विशाल आकृति की लोह–कुम्भी में अपराधियों को दण्डस्वरूप लटाकये जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है ये महती आकार वाली लोह–कुम्भी काफी गहराई लिए हुए विशालकाय होती थी। लौह माणक एवं लौह वारक को सांकृत्यायन जी ने लोहे का मटका कहा है। 'लोह कटाह' का अर्थ लोहे की कड़ाही से लिया गया। 'लौह–वासी' का अर्थ लोहे का वसूला है। फरसा एवं कुदाल का अर्थ तो स्पष्ट ही है। लोह–खनती से अभिप्राय सम्भवतः लोहे की खुरपी रहा होगा। महावग्गपालि में तेल आदि पकाने के लिए लोहे के तुम्बे की प्रयोग की अनुमति दी गयी है।[5] तुम्बा सम्भवतः चौडे मुखवाला घटाकृति पात्र रहा होगा। लोहे के अन्य पात्रों में लोहे के तवे[6], थाली, कमण्डल[7] आदि का उल्लेख आता है। दीघनिकाय महापरिनिर्वाण सुत्त में भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरान्त उनके शरीर को रखने के लिए लोहमय द्रोणी का उल्लेख मिलता है।[8]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/५/३/ हि० अनु० पृष्ठ–४७।
लोहकुम्भी, लोहमाणकं, लोहवारको, लोहकटाहं, वासी,
परसु, कुठारी, कुदालो निखादन– इदं चतुत्थ अवेभन्गिय, न विभजितब्बं, संगेन वा गणेन वा पुग्गलेन वा। विभत्तं पि अविभत्तं होति। यो विभाजय्य, आपत्ति थुल्लच्चयस्ण।

२. सिह, शिवाजी, वैदिक लिटरेचर आन पाटरी, पाटरीज इन एन्शियंट इंडिया, पृ० ३०४

३. जातक, संख्या ५४,

४. सुत्त–निपात, कोकालिक सुत्त, ३/१० अथ लोहमयं पन कुम्भिं, अग्गिनिसमं जलितं पविसन्ति।पच्चन्ति हि तासु चिररत्त, अग्गिनिसमासु समुत्पिलवासो।

५. विनयपिटक, महावग्ग,६/२/१
अनुजानामि तीणि तुम्बानि लोहतुम्बं कट्ठतुम्बं फलतुम्बं/

६. अगुत्तर–निकाय, खंड–३ पृ० २०७
दिवसं सन्तप्ते अयोकपाले अनुअमाने पपटिका।

७. चुल्लनिद्देश, खु० नि०, खंड ४, पृ० २६८–६६, २६०, अपदानपालि, खु० नि० भाग ६, प्रथम भाग, पृ० ३८ यो लोहथालकं धारेन्ति, धम्माकरकं धारेन्ति, सो समणो महेसक्खो ति भणति।

८. दीघ–निकाय, महावग्ग, महापरिनिब्बाण सुत्त, ४/५

लौह निर्मित अलंकरण की वस्तुओं का भी प्रयोग किया जाता था। लोहे का कुण्डल[१] जिस पर स्वर्णपरत चढी थी, लोहे की छुरी[२] जिसका उपयोग नाई एवं भिक्षु केशों के काटने के लिए करते थे, एवं नहहरनी[३] उल्लेखनीय है।

लौह निर्मित सिलाई–बुनाई के उपकरणों में सूई[४] एंव कैंची[५] का उल्लेख मिलता हैं।

लौह कृषि उपकरणों के फार, फरसा, कुदाल, कुल्हाड़ी खनती का उल्लेख मिलता है। लोहे के फार का उल्लेख सुत्तनिपात के कासिभारछाज सुत्त में प्राप्त होता है।[६] प्रो० डी० डी० कौसाम्बी के अनुसार सूत्र की उपमा से यह स्पष्ट होता है कि फार लोहे का ही रहा होगा। क्योंकि यदि दिनभर काँसे को तपाया जाय तो वह काफी कमजोर एवं व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि कॉसा एक मुलायम धातु है। अन्यत्र भी लोहे की फार का उल्लेख प्राप्त होता है।

लोहे की जंजीर, पीढ़ा एवं मंच का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[७]

लोहे के हथियारों का भी वर्णन मिलता है जैसे– लोहे की बर्छी[८], कूट[९], वाण,[१०] कवच[११], तलवार[१२], शूल[१३] आदि।

---

१. संयुत्त–निकाय, १/३/२/२ पृष्ठ ७५
२. विनयपिटक चुल्लवग्ग, ५/३/६
३ विनयपिटक, चुल्लवचग्ग ५/३/५
४. विनयपिटक, चुल्लवग, ५/१/१२
"अनुजानामि भिक्खवे सूचि" ति/
५ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/३/६
६. सुत्त निपात, १/४
७. अंगुत्तर निकाय, खंड–३, पृ० २५३, हि० अनु० पृ० २३७
८. सुत्त, कोकालिक सुत्त, हि० अ० पृष्ठ ७१; ३/१० अयोसंकु–समाहतठ्ठानं, तिण्हधारमयसूलमुपेति।
९. सुत्त–निपात, कोकालिकं–सुत्तं, हि० अनु० पृष्ठ १७६;३/१० जालेन च ओनहियाना, तत्थ हनन्ति अयोमयकूटेहि।
१०. धम्मपदं, पंडितवग्गो, पृष्ठ ३७;
११. अंगुत्तर–निकाय, खण्ड–३, पृ० २५३, हि० अनु० २२६ 'तत्तेन अयोपटेन'
१२. जातक, असिलखक्या जातक; सख्या १२६
१३. महानारद काश्यप जातक, संख्या ५४४,

लोहे के कूट का अर्थ राहुल सांकृत्यायन ने हथोड़े के अर्थ में लिया है। धम्मपद में उसुकार द्वारा आग में तपाकर वाण को एकदम सीधा व तीक्ष्ण बनाने का उल्लेख आया है।[१]

स्थापत्य के निर्माण में भी लोहे का बहुभाँति प्रयोग होता था। लौहमय गृह,[२] लौह प्रकार से घिरे अन्नागार[३], लोहे की कील[४], जंजीर[५] एवं सिटकनी[६] आदि का उपयोग किया जाता था।

जंग लगने से लोहा विनष्ट हो जाता है।[७] सुई को जंग लगने से वचाने के लिए विविध उपायो का उल्लेख विनयपिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है।[८]

लोहे का काम करने वालों को कम्मार कहा जाता था। कभी–कभी ये लोहार बहुत बड़ी संख्या में एक स्थान पर रहते थे। इनका एक प्रधान होता था। इस गाँव से लोहे के विविध उपकरण, शस्त्र आदि आस–पास के क्षेत्रों में जाते थे।[९] लोहे क समान को तैयार करने के लिए भट्ठी भूमि के अन्दर तक बनी होती थी जिसमें गैस प्रवाह के लिए बाहरी सिरे पर दो छिद्र होते थे जिनमें मिट्टी की बनी वायु नलिका लगी रहती थी तथा नलिका के दोनों सिरों

---

१ धम्मपदं, पण्डितवग्गो, पृष्ठ ३७ उसकारा नमयन्ति तेजनं

२. अयोघर जातक, जातक संख्या ५१०

३. संयुत्त–निकाय, २/१४/१/६

४. मज्झिम–निकाय, बाल–पंडित सुत्तन्त २/१/६ हि० अ० पृ० २२६

५. सयुक्त निकाय १/३/१/१० हिन्दी अनु० पृष्ठ ७३

६. विनयपिटक, चुल्लवग्गपालि, पृ० २३६

७. अयसा, व मल समुट्ठितं धम्मपदं, मलवग्गो, पृष्ठ १०६ तदुट्ठाव तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं।।

८. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/१२;

६. सूची जातक

पर भाथी होती थी। इस भाथी पर दोनों पैरों से खडे होकर क्रमशः ऊपर नीचे उठते हुए दोनों पैरो से दबाव डालकर वायु को ताप बनाये रखने हेतु पहुँचाया जाता था।[1] सर्पराज मार की श्वास–क्रिया की उपमा तेज शब्द करने वाली लोहार की भाथी से की गयी है।[2]

शुद्ध लोह पिण्ड तैयार करने के लिए दिनभर लोहे को तपाया जाता था इस तप्तावस्था में वह हल्का भी हो जाता था।[3] इस तैयार शुद्ध लौह पिण्ड से विभिन्न वस्तुएं बनायी जाती थी। तप्तावस्था में लोहे को पीटकर सम्भवतः उसमें जो थोड़ी बहुत अशुद्धियॉ कार्बन आदि थी दूर कर ली जाती थी।[4]

सुवर्ण धातु-

सुवर्णकार एवं उसके द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार की वस्तुओं पर प्राचीन पालि साहित्य से प्रकाश पड़ता है। इन ग्रन्थें में सुवर्णबोधक शब्द के रूप में 'हिरण्य', 'जातरूप', कंचन 'श्रृगी', 'हाटक', 'हेम', 'कम्बु' एवं 'निष्क' का प्रयोग मिलता है।

सुवर्णमय अलंकरण की वस्तुओं में स्वर्णाभूषण, स्वर्णिम वेशभूषा, छत्र, चंवर एवं ध्वजा आते हैं। महिलाओं के स्वर्णमय आभूषणों में वेणी,[5] ग्रीवेयक,[6] कंठाहार[7], माला[8], कुण्डल,[9] अंगूठी,[10]

---

१ प्रिया श्रीवास्तव, प्राचीन बौद्धग्रन्थो में वर्णित धातु एवं धातुकर्म पृष्ठ–२०८

२ संयुक्त–निकाय, खण्ड। पृ० १०६, हि० अनु० भाग १, पृ० ३६०

३. दीघ–निकाय, २/१०/१/३

४. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ० ४२;

५. थेरीगाथा श्लोक सं० २५५; खु० नि० पालि खण्ड २, पृ० ४३८ "कण्हखन्धक सुवण्णमण्डितं, सोभते सुवेणी अलंकात।"

६. अंगुत्तर–निकायपालि, खण्ड[1], पृ० २३४, खण्ड [2] पृ० २८६ सुवण्णउकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी जातरूप घमति सन्धमति निद्धमति। त होति जातरूपं धन्तं सन्धन्तं निद्धन्तं कसाव मृदु च होति कम्मनिय च पमस्सरं च न च पभंगु सम्मा उपेति कम्माय। यस्सा यस्सा च पिलंघनविकंतिया आकखति यचदि गीवेय्येकेन तं चस्स अत्थं अनुभोति।

७. थेरीगाथा, श्लोक नं० २६२, खु० नि०, खं–२, पृष्ठ ४३६;
सण्ह कम्बुरि सुप्पमज्जिता, सोभते तु ग्रीवा पुरे मम।

८. विनयपिटक, पाराजिकपालि, पृ० ३५५–५६, महावग्ग, पृ० २२७ सा अहोसि सुवण्णमाला अभिरूपा। दस्सनीया, पासादिका नत्थि तादिसा पि अन्तपुरं सुवण्णमाला

९. अंगुत्तरनिकायपालि, खण्ड–२, पृ० २८६
संयुक्तनिकायपालि, खण्ड १, पृ० ७८ "कुण्डलो होहऽनुमासो वा सुवण्णछन्नो।

१०. अंगुत्तरनिकायपालि खण्ड–२, पृ० २८६
जातरूपस्स उपक्किलेसेहि विमुत्तं होति............यदि मुछिकाय तं चस्स अत्थं अनुमोति।

पाजेब,[1] केयूर का उल्लेख मिलता है। पुरुषों द्वारा भी जीवन में सुवर्ण का व्यवहार किया जाता था। सुवर्णमय परिधान[2] स्वर्णमय चरणपादुका[3] चंवर,[4] जंजीर[5], माला,[6] कुण्डल,[7] हस्ताभरण,[8], मेखला[9], ध्वजा[10] आदि पुरुषों द्वारा धारण की जाती थी–

सुवर्ण का धनाराशि के रूप में भी उल्लेख मिलता है। उपयोग की दृष्टि से इन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बांटा गया है।

(१) सम्पत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि

(२) मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि।

---

१ थेरगाथा, श्लोक नं. २६६, पृ० ४३१

सण्हनुपुर सुवण्णमण्डिता, सोभते तु जंघा पुरे मम।

२ सोणनन्द जातक

३ विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११

४ सुत्तनिपात, ३/११

सुवण्णदण्डा वीतिपतन्ति चामरा, न दिस्सरे चामरछत्तगाहका।

५. जातकपालि, सं. ५११, खु० नि० खण्ड–३

राजपूत्ता स०वालकार भूसिता

चित्रवग्मधरा सूरा कञ्चनवेलधारिनो।

६. जातकपालि, सं. ५४६

सुवण्णमालं सतपलफुल्ल, सकेसरं रतन सहस्समण्डितं।

७. महानिछेसपालि, खु० नि० खण्ड–५, पृ० ३६६

कुण्डल लोहनुमासो वा सुवण्णछन्नो।

८. जातक, संख्या ५४४, पृ० २६४

मुत्तामणिकनक विभूसितानि, गण्हस्सु हत्था भरणानि सोभसि राजपरिसाय।

९. जातक संख्या ५३१ ख० नि०, खण्ड–३–भाग २, पृ० ७५। कुसेन जातं खत्तिथं, सुवण्णमणिमेखतं

१०. यस्स पुब्बे धजग्गनि, कणिकारा च पुप्फिता चायन्तमनुयायन्ति स्वजेकी व गमिस्सति।

सम्पत्ति मूलक सुवर्णधराशि का उल्लेख राजाओं एवं धनाढ्य वर्गों के कोषागारों, उनके द्वारा दिये गये दान आदि के सन्दर्भ से प्राप्त होते हैं। संयुक्त–निकाय में कहा गया है कि यदि भिक्षु को सुवर्ण चूर्ण से परिपूर्ण चांदी की थाली दी जाय तो भी वह झूठ नहीं बोलेगा।[१]

इसी प्रकार मज्झिम निकाय मे प्रव्रजित राष्ट्रपाल अपने पिता को सलाह देता है कि 'हे गृहपति, तू मेरी बात मान, इस हिरण्य सुवर्ण पुज को गाडियों पर रखवा, ढुलवाकर गंगानदी की बीच धार में डाल दे[२]।

विभिन्न सन्दर्भो मे मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है। चुल्लवग्ग में श्रावस्ती के श्रेष्ठी अनाथपिण्डक गाडियों पर हिरण्य ढुलवाकर जेतवन का क्रय करते हैं[३] तक्षशिला से शिक्षा ग्रहण कर लौट रहे जुण्ह कुमार एक भिक्षु से टकरा जाते हैं जिससे उनका भिक्षा पात्र टूट जाता है। प्रायश्चितस्वरूप जुण्हकुमार उसे हजार से अधिक निष्क देते हैं।[४]

दैनिक जीवन के व्यवहार में भी सुवर्ण–वस्तुओं का उपयोग किया जाता था। स्वर्णमय पात्रों में सोने की थाली, तश्तरी, कलश, धूमनेत्र, सोने के मूट वाली कैंची, सुवर्णमय पीठासन, पीछे सुवर्णयुक्त पाये, रूपर्णिम छत वाली नाव, स्वर्णखचित नौका, सुवर्णमय रथ, सुवर्णमय हौदा, सुवर्णमय पिज्जरा आदि उल्लेखनीय है।

अंगुत्तरनिकाय में प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त मिट्टी, धूलादि कणों से युक्त सुवर्ण कण प्रारम्भिक रूप मे दो अवस्थाओं में शुद्ध किये जाने का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। "सुवर्ण पर बड़े–बड़े धब्बे होते है मिट्टी के, बाले के। उन्हें मिट्टी धोने वाला या उसका शिष्य द्रोणी

---

१. संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृ० २६१;

२. मज्झिम निकाय, हि० अ०, पृ० ३३३

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/३/१;

४. जातक संख्या ४५६;

मे डालकर अच्छी प्रकार से धोता है, मलकर धोता है ताकि उसका मैल प्रहाण हो जाय। तब उसके बालुका आदि स्थूल कण शेष रह जाते हैं, जिसे सुनार तथा उसका शिष्य मूसा में डालकर तपाता है, अच्छी प्रकार से तपाता है, किन्तु साफ नहीं करता है। वह स्वर्ण अच्छी प्रकार से तपा हुआ होता है, किन्तु न तो साफ होता है न मृदु और न प्रभास्वर।"।[1]

उपरोक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त स्वर्ण को मूलधातु के रूप में प्राप्त कर लिया जाता था, किन्तु वह साफ नहीं होता था। स्वर्णकार द्वारा गेरु व नमक द्वारा सुवर्णधातु को शोधित किये जोने का संदर्भ प्राप्त होता है। 'अंगीठी होने से, नमक होने से, गेरु होने, सण्डसी होने, उसके साथ आदमी का प्रयास होने से, मलिन सोना क्रमशः साफ होता है।[2] इस प्रकार सुवर्ण को शुद्ध किया जाता था।

सुवर्ण, सामग्री निर्माण से पूर्व सुदृढ़ कमनीय एवं प्रभास्वर बनाया जाता था। 'सुवर्णकार या उसका शिष्य भट्ठी तैयार करता है। भट्ठी तैयार करके उसे लीपता है, लीपकर सण्डासी से सुवर्ण पकड़कर उसमें डालता है। सुवर्ण डालने के पश्चात् समय–समय पर उसे तपाता है, समय–समय पर उसकी उपेक्षा करता है अथवा चुपचाप छोड़ देता है। यदि स्वर्णकार या उसका शिष्य सोने को सिर्फ तपाता ही रहे तो निश्चयतः वह सुवर्ण जल जायेगा। यदि उस पर निरंतर पानी के छींटे ही डालता रहे तो वह सुवर्ण बुझ जाएगा। यदि उसकी उपेक्षा ही करे तो

---

१. काश्यप, जगदीश अंगुत्तरनिकायपालि, भाग १, पृ० २३४
जातरूपस्सं ओलारिका उपक्किलेसा पसुवालक सक्खर कठला। तमेनं पंसुधोवक वा पंसुधोवकन्तेवासी वा दोणि अभिरत्वा धोवति सन्धोवति निद्धोवति। तस्मिं झयन्ती कते अथापर सिकता वसिस्सन्ति। तमेनं सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा जातरूपं मूलायं पक्खिमित्वा घमति निद्धमति। तं होति जातरूपं धन्तं रून्धतं अनिद्धन्तं न चैव मृदुहोति न चेव कम्मानियं न च पमस्सर पभंगु च।

२. अंगुत्तननिकायपालि, खण्ड–१, पृ० १६५, हिन्दी अनु० पृ० २१६क उक्कं च पटिच्च लोणं च पटिच्च गेरुक च पटिच्च नाचिं सण्डासं च पटिच्च परिसस्स च तज्जं वायामं पटिच्च।

वह सुवर्णठीक से बनेगा ही नही। चूंकि सुवर्णकार या उसका शिष्य समय–समय पर सुवर्ण को तपाता है, उस पर बीच–बीच में पानी के छीटें डालता है तथा समय–समय पर चुपचाप छोड देता है, जिससे वह सुवर्ण कोमल, प्रभास्वर न टूटने वाला तथा काम में लाये जा सकने योग्य होता है।[1] इस विधि से तैयार सुवर्ण खरा या शुद्ध होता है। प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में अन्यत्र भी सुवर्णकार द्वारा सुवर्ण को भट्ठी में शुद्ध करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इस विधि से तैयार सुवर्ण खरा या शुद्ध होता है।

रजत धातु-

रजतमय वस्तुओ से सम्बन्धित विवरण सीमित रूप से ही ज्ञात होते हैं। उल्लेखें से ज्ञात होता है कि रजत धातु से निर्मित वस्तु का उपयोग समाज का धनाढ्य वर्ग ही करता था, जो उसके बहुमूल्य होने का संकेत देता है।

दैनिक जीवन में रजतमय पात्रों के उपयोग में आना स्पष्ट होता है। राजगृह के भिक्षु बहुमूल्य स्वर्ण एवं रजत धातु से निर्मित पात्र उपयोग में लाते थे जिसका व्यवहार उनके लिए विहित नहीं था।[3] चाँदी के पात्रों में रजत थाली,[4] रजतमय धूम्रनेत्र[5], अंजनदानी[6], कर्णमलहरणि[7], रजतमय चरणपादुका[8], रजतयुक्त पलंग,[9] रजतमय दण्ड वाली कैंची, रजतमय रथ, रजतमय पहिया आदि का उल्लेख मिलता है।

---

१. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड–१, पृ० २३८
२. मज्झिमनिकायपालि, खण्ड–१, पृ० ५, हि० अनु० पृ० २६
३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/१०
४. चतुरासीति रूपियपाति सहस्सानि अदासि सुवण्ण पूरानि।
अंगुत्तरनिकाय, चतुर्थ खंड, पृ० २२१–२२२, हि० अनु० २६५
५. विनयपिटक, महावग्ग, पृ० २२३
६. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, हिन्दी अनुवाद, पृ० २१८
७. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृ० २२५
छब्बग्गिया भिक्खू उच्चावचा कण्णमलहरणियो धारोन्ति सोवण्णमय रूपियमयं।
८. विनयपिटक, महावग्ग, हि० अनु० पृष्ठ २०८;
९. दीघनिकाय, २/४, हि० अ० पृष्ठ १५७;
चतुरासीति पल्लंक सहस्सानि अहेसुंसोवण्णमयाभि
रूपियमथाभि गोनकत्थानि।

पालि ग्रन्थे में र जत धातु सम्बन्धी विवरणों में धनराशि के रूप में रजत के उल्लेखो का बाहुल्य है। धनराशि के रूप में रजत को दो प्रकार से व्यवहृत किया जाता था–(१) सम्पत्ति मूलक रजत धनराशि (२) मुद्रासूचक रजतधनराशि।

राजाओं, श्रेष्ठी, गृहपति आदि धनाढ्य वर्ग के पास अपार रजत एवं सुवर्ण धनराशि से पूर्ण कोषागारों का उल्लेख मिलता है। विनयपिटक में ऐसे भिक्षुओं की आलोचना की गई जो रजत धनराशि की भिक्षा ग्रहण करते हैं। श्रावस्ती के धनाढ्य ब्राह्मण गृहपति ने सहस्रों की संख्या में सोने की थाली, थालियॉ जो रजत से परिपूर्ण हैं, का दान दिया।[१]

व्यवहार में प्रचलित तथा संख्यावाचक रजत धनराशि को उपयोग में लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। 'चुल्लवग्ग' में रजत की व्यवहार मे प्रचलित मुद्रा को 'कहापण' कहा गया है, जो ताम्र के मासक, हड्डी, लाख एवं दारु (लकड़ी) के मासक के समान दैनिक व्यवहार में प्रचलित थी।[२] सहस्रों की संख्या में कहापण बुद्ध के जन्मोत्सव पर वरसाये गये।[३]

वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले धनाढ्य वर्ग अपने भवनों आदि के निर्माण में रजत धातु का प्रयोग करते थे। 'चम्पेय जातक' में सोने के घर एवं चॉदी के प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[४] बौद्ध श्रावकों द्वारा बौद्ध पूजा के निमित्त बहुमूल्य धातुओं के स्तूप का निर्माण किया गया। 'पहला स्तूप सुवर्णमय, दूसरा मणिमय, तीसरा रजतमय एवं चौथा स्फटिकमय बनवाया'[५]।

---

१. अंगुत्तरनिकाय, चतुर्थ खंड, २०१–२०२, हि० अनु० पृ० ३३ चतुरासीति सुवण्णपाति सहस्सानि अदासि रूपियपूरानि।

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, हि० अनु० पृष्ठ १६
रजत नाम कहापणो लोहमासको दारूमासको जतुमासको ये वोहारं गच्छति।

३. धम्मपद, हि० अनु० पृष्ठ ११८;

४. जातक संख्या ५०६, चम्पेय्य जातक;

५. अपदान, भाग–२, खु० नि०, खंड–६ पृ० ८२
पठमा कञ्चननया, दुतियसि मणीमया
ततिया रूपियमया, चतुतसी फलिकमया

प्रारम्भिक पालि–साहित्य रजत धातु कर्म के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं। सुत्तनिपात में कहा गया है कि 'कर्मकार चांदी के मैल को क्षण–क्षण क्रमशः थोडा–थोड़ा करके जलाता है।'[1] इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र मे शुद्ध चांदी की पहचान बताते हुए कहा गया है कि शुद्ध चॉंदी श्वेत, स्निग्ध एवं मुलायम होती है। इसके विपरीत काली, रूक्ष, खरखरी एवं फटी हुई चॉंदी खराब होती है। कर्मकार को खराब चॉंदी में चौथाई भाग सीसा डालकर उसको शुद्ध करना चाहिए तथा जिसमें बुदबुद उठते हों और दही सके समान श्वेत हो वही शुद्ध चांदी होती है।[2]

ताम्रधातु-

भारत में धातु–सभ्यता का प्रारम्भ ताम्र धातु से ही माना जाता है। इस धातु से अतिप्राचीन काल में ही विभिन्न प्रकार के उपकरणों का निर्माण विशाल पैमाने पर होने लगा था। यही कारण था कि नवपाषाण कालीन सभ्यता का यह युग 'ताम्र–पाषाण–युग' कहा जाने लगा। प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में ताम्र के उपयोग के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका एक प्रमुख कारण इस काल में लौह धातु का प्रचलन हो जाना था। पूर्वोत्तर भारत में लौह धातु, कृषि एवं अन्य व्यवसाय के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही थी। ताम्र के सीमित उपयोग का दूसरा कारण ताम्र धातु का मिश्र धातु कांस्य के रूप में बहुलता से उपयोग भी रहा है। पालि ग्रन्थें में तॉबे का उल्लेख अन्य बहुमूल्य धातुओं के साथ इससे भी विरत रहने के सन्दर्भ में आता है। इससे प्रतीत होता है कि यह भी एक बहुमूल्य धातु थी।

'अयस' शब्द को यद्यपि धातु बोधक लौह तथा ताम्र के अर्थ में उल्लिखित किया गया है किन्तु संदर्भ विशेष के आधार पर स्पष्ट है कि 'अयस' शब्द को प्रायः लौह सूचक अर्थो में ही प्रयुक्त किया गया है। दीघनिकाय के महापरिनिब्बाणसुत्त में कहा गया है कि 'तेल की

---

१. कम्मारो रजतस्सेव निद्धमें मलमत्तनो

धम्मपद, खु० नि०, भाग १, पृ० ३६, हि० अनु० १४२–४३

२. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् वाचस्पति गैरोला, द्वि० अधि० पृ० १७५, १७६

लोहद्रोणी में रखकर, दूसरी लोह–द्रोणी से ढककर सभी गंधों (वाले काठ) की चिता बनाकर' भगवान् के शरीर को अग्नि को समर्पित करने का उल्लेख मिलता है। इस संदर्भ विशेष में 'अयस' शब्द को ताम्र मानकर अनुवादक ने इसे ताम्र द्रोणी कहा है। ऐसा सम्भवतः भगवान् बुद्ध के महापुरुषत्व के कारण कहा गया है, जो उचित प्रतीत होता है।[१]

पालि ग्रन्थें में ताम्र को लाल रंग का कहा गया है। प्रायः इसकी उपमा रक्त वर्ण नेत्रों से दी गई है। भिक्षुओ के सन्दर्भ मे प्रायः ताम्र–पात्रों का उल्लेख मिलता है। 'षड्वर्गीय भिक्षु बहुत से तॉबे (=लोह) कॉसे के भॅडों का संच करते थे'[२] जो इनके लिए विहित नहीं था। इसी प्रकार अन्य उल्लेख भी हैं। ताम्रमयी कर्णमलहरनी[३] एवं ताम्रमयी चरणपादुका[४] के भी उल्लेख मिलते हैं।

चुल्लवग्ग से लोहनिर्मित मुद्रा का उल्लेख मिलता है। 'जातरूप सत्थुवर्ण (शास्ता के वर्ण की) मुद्रा है। रजत कार्षापण का नाम है, तॉबे के भाषक (=माशा), दारु के माशा और लोहे के माशों के रूप में व्यवहृत होता है।[५] 'महाजनक जातक' में मिथिला नरेश के अपार धनराशि के संदर्भ में ताम्रसूचक धनराशि का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[६]

तांबे की तकनीकि पक्ष पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके प्रगलन के विषय में कहा गया है कि 'पिघला हुआ तांबा जितना कष्ट देता है कामभोगों का दुःख उससे भी अधिक कष्टकर होता है।[७] तॉबे को सोने में भी मिलाया जाता था।

---

१ प्रिया श्रीवास्तव, प्राचीन बौद्धग्रन्थें में वर्णित धातु एवं धातुकर्म, पृ० २२४

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/३/८

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/३/८

४. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११

५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृ० ३३६, हि० अनु० पृ० १६
जातरूपं नाम सत्थवण्णे वुच्चति रजतं नाम कहापणो। लोकमासको ढारूमासको जतुमासको ये वोहारं गच्छति।

६. जातक संख्या– ५३६, खु० नि०, भाग ३, खण्ड–२, पृ० १७७
अजिन दन्त भण्डञ्च लोहं कालायसं वहु

७. जातक संख्या ४५६, पानीय जातक; तम्बलोहविलीनं व–कामा दुक्खतरा ततो।

कांस्य धातु-

लगभग तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० से ही कास्य–वस्तुएं प्राप्त होने लगती है। मूल धातु ताम्र में पॉच प्रतिशत से पच्चीस प्रतिशत तक रांगे का मिश्रण करके इस धातु को तैयार किया जाता है। इस धातु को 'घण्टिका धातु' के नाम से भी जाता है क्योंकि रांगे के मिश्रण से तैयार इस धातु में ध्वनि संचारण का विशेष गुण विद्यमान होता है। अतः जहॉ कांस्यमयी वस्तुओं को पीटने पर उससे तेज आवाज निश्रित होती है वही इन वस्तुओं के टूटने पर उसके ध्वनि संचारण में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।[1]

पालि ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि अनेक कास्यमयी वस्तुएं प्रयोग में लायी जाती थी। 'श्रमण शाक्यपुत्र बहुत से लोहभाण्ड एवं कास्यभाण्डों का संचयन करते हैं; कसेरे की भॉति। भिक्षु जो इसे ग्रहण करे वह दुक्कट का दोषी है।'[2] कसि भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान बुद्ध के अतिथि–सत्कार में 'एक बहुत बड़ी कांसे की थाली में भगवान को खीर परस कर दिया।'[3] दीघनिकाय के 'महासुदस्सनसुत्त' में एवं अंगुत्तरनिकाय के वेलाम सुत्त में दुग्धधारी, कांसे की घण्टी पहने गायों को दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

---

१. प्रिया श्रीवास्तव, प्राचीन बौद्धग्रन्थों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म, पृष्ठ २३६

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृ० २२५, २२६ हि० अनु० पृ० ४४२
समणासक्युपुत्तिया बहुलोहभण्डं कंसभण्डं सन्निचयम् करिस्सन्ति सेय्यथापि संकपत्थरिका' ति। यो धारेय्य आपत्ति दुक्कुटस्य।

३. सुत्त–निपात, १/४
महतिया कंसपातिया पायासं बद्धेत्वा भगवतो उपनामेसि

४. दीघ–निकाय, खण्ड २, पृ० १३६–३७, हि० अनु० पृ० १५७
चतुरासीति धेनु सहस्सानि अहेसु दुहसन्धनानि कंसूप धारणानि अहेसुं

समस्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि कांस्य व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। कांस्यकार को धातुकार सूचक 'कम्मार' तथा 'कंसपत्थकारिका' आदि नामों से जाना जाता था। ये कांस्यवस्तुओं का निर्माण एवं विक्रय करते थे। इनके अपने पूरे पूरे कुल होते थे जिसके कारण से इनके लिए 'कम्मारकुल' शब्द व्यवहृत हुआ है जो कि अलग व्यवसायिक वर्ग के सामूहिक रूप से विकसित होने का सूचक है।[१] कंसेरो के यहॉ बड़ी संख्या में कास्यभाण्ड संचित रहते थे।[२]

सीसा धातु-

काले रंग की अत्यधिक चमकदार धातु सीसे को अतिप्राचीन काल से ही ताम्र–कांस्य वस्तुओं के निर्माण में उपयोग लाने के पुरातात्विक प्रमाण मिलते हैं। 'महावग्ग से बौद्ध भिक्षुओं को बहुमूल्य धातु से बने पादुकाओं का प्रयोग न करने के संदर्भ में सीसे से बनी चरणपादुका का उल्लेख मिलता है।[३] 'चुल्लवग्ग' से राजगृह के षडवर्गीय भिक्षुओं को सीसेमय पात्र का प्रयोग न करने के निर्देश दिये गये हैं।[४]

सीसा धातु- कर्म के अन्तर्गत पालि ग्रन्थों से सीसे की शोधन प्रक्रिया एवं मिश्रित सुवर्ण तैयार किये जाने में सीसे के उपयोग में लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। 'अंगुत्तर निकाय' के "उपोसथ सुत्त" से मैले सीसे को शोधित करने की प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है "तेल से राख से (मिट्टी), बालों के गुच्छे के एवं आदमी के प्रयत्न से मैला सीसा क्रमशः साफ होता है।"[५]

---

१. प्रिया श्रीवास्तव, प्राचीन बौद्धग्रन्थों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म, पृ० २५०

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, हि० अनु० पृ० ४४१

३. विनयपिटक, महावग्ग, पृ० २०६–१०
न सीसमय पादुका धारेतब्बा।

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृ० २२५
न सीसमयो पत्तो धारेतब्बो।

५. अगुत्तरनिकाय, खंड–२, पृ० १६१, हि० अनु० पृ० २१५
"कम्मं च पटिच्च, मत्तिकं च पटिच्च, उदकं च पिटच्च पुरिसस्स च तज्ज वायाम पटिच्च, सीसस्स उपक्किलि परियोदापना होति

सुवर्ण धातु में भी सीसे को मिश्रित किया जाता था। जिससे सुवर्ण की शुद्धता प्रभावित होती थी। 'लोहा, ताँबा, वंग, सीसा, चाँदी इन पंच धातुओं से तैयार सुवर्ण न तो मृदु होता है, न कोमल, न ठोस, न प्रभास्वर और न ही कमाया जा सकने वाला होता है।[1]

रांगा (त्रपु) धातु-

रांगा का उपयोग अति प्राचीन काल से ही ज्ञात होता है। तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० मिश्र में धातु कांसे के उत्पादन के रूप में त्रपु धातु का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता था। ताम्र वस्तुओं को कठोरता प्रदान करने के लिए उसमें त्रपु धातु को मिलाया जाता था।

'विनयपिटक' से बौद्ध भिक्षुओं को बहुमूल्य पात्रों से उपयोग न करने के सन्दर्भ में रांगेमय पात्र का भी उल्लेख मिलता है।[2] इसी प्रकार मूल्यवान धातुओं की चरणपादुका के प्रयोग न करने के भी निर्देश दिये गये हैं।[3]

रांगे को सुवर्ण में भी मिश्रित किया जाता था। परन्तु इसे सोने की मैल कहा गया है।[4]

इस प्रकार पालि ग्रन्थों में त्रपु धातु के अत्यन्त सीमित लेख प्राप्त होते हैं।

वस्त्र उद्योग -

वस्त्र उद्योग एक प्रमुख उद्योग के रूप विकसित हो गया था। विविध प्रकार के वस्त्रों—कौषेय (कीड़े के अंडे से उत्पन्न होने वाले सूत—रेशम, अंडी, टसर आदि), क्षौम (अलसी की छाल) कपास, कम्बल (ऊन) सन, भॉग (भाँग की छाल का) आदि से निर्मित किये जाते थे।[5]

---

१. अगुत्तर निकाय, खंड २, पृ० २८६, हि० अनु० पृ० २५०

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग पृ० २२५, हि० अनु० ४४१
   न तिपुमयो पत्तो धारेतब्बो

३. विनयपिटक, महावग्ग, पृ० २०६—१०
   न तिपुमया पादुका धारेब्बा।

४. अंगुत्तर निकाय, खण्ड—२— पृ० २८६
   ये हि पञ्चेहि उपक्किलेसेहि अयोलोहं तिपुसीसं सष्सुं।

५. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/५ हि अ० पृ० २७५

काशी वस्त्र निर्माण का ख्याति प्राप्त केन्द्र था। सभी बुने गये कपड़ों में काशी का कपडा अग्र समझा जाता था।[1]

काशी का वस्त्र बहुमूल्यवान होता था। प्रासाद, पृथ्वी गौ आदि ऐश्वर्यमयी वस्तुओं के साथ काशी के वस्त्र की गणना की गई है।[2] जातक में एक लाख मूल्य के काशी के वस्त्रों उल्लेख मिलता है।[3] यहॉ के वस्त्र अपनी स्निग्धता, शुद्धता महीनता के लिए विख्यात थे। ये वस्त्र दोनों ओर से चिकने (पालिश युक्त) होते थे। दीघ–निकाय के महापरिनिर्वाण–सुत्त में दोनो ओर से चिकना, अलसी के पुष्प की भाँति नीला, कर्णिकार–पुष्प की भॉति पीला, अड़हुल–पुष्प की भॉति लोहित, शुक्रतारा की भॉति श्वेत बनारसी वस्त्र का वर्णन आया है।[4]

चापा ने अपने प्रव्रजित पति को लौटाने की चेष्टा में उससे कहा था "काशी के उत्तम वस्त्रों को धारण करने वाली मुझ रूपवती को छोड़कर तुम कहॉ जाओगे।"[5]

मज्झिम–निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है, "यहाँ (वाराणसी में) कपास भी कोमल, सूत कातने वाली तथा जुलाहे भी चतुर और जल भी सु–स्निग्ध है। यहाँ का वस्त्र दोनों ही ओर से चिकना होता है। दोनों ही ओर से वह कोमल, मृदु और स्निग्ध दिखाई देता है।"[6]

काशी के अतिरिक्त देश मे वस्त्र निर्माण के कुछ अन्य भी प्रमुख केन्द्र थे। गन्धार ऊनी वस्त्रों एवं कम्बलों के लिए जाना जाता था। महावेस्सन्तर जातक[7] में गन्धार देश के लाल कम्बलों का उल्लेख आया है। शिवि के दुशाले अतिमूल्यवान समझे जाते थे। उज्जैनी के शासक प्रद्योत को पांडु रोग से ग्रसित था। राजगृह के सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक ने उज्जैनी–नरेश

---

१. संयुक्तनिकाय, ५/४३/५/१०

२. जातक संख्या–५३७, महासुत्तसोम जातक;

३. जातक संख्या ५४६, महाउम्मग जातक

४. दीघ–निकाय, महापरिनिब्बाण–सुत्त, २/३

५. " .... कासिकुत्तमधारिनि .... कस्सोहाय गच्छसि।" थेरीगाथा, गाथा २६८

६. "वाराणसियं किर कप्पासो पि मुदु, सुत्तकन्तिकायो पि तन्तवायो पि छेका। उदकम्पि सुचिसिनिद्धं, तस्मा वत्थं उभतो भागविमट्ठ होति। द्वीसु पस्सेसु मट्ठं मुदुसिनिद्धं खायति"। भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भुगोल, पृष्ठ ३६८;

७. महावेस्सन्तर जातक।

की बीमारी दूर कर दी। पुरस्कारस्वरूप, प्रसन्न उज्जैनी नरेश प्रद्योत ने बहुत सौ हजार दुशाले के जोड़े में श्रेष्ठ शिवि के दुशालों का जोड़ा वैद्य जीवक को भेंट किया।[1] इसी प्रकार वाहीत राष्ट्र के वस्त्र भी राजा–महाराजाओं में आपस में भेंट के रूप दिये जाते थे। कोशल नरेश प्रसेनजित् को मगध नरेश अजातशत्रु ने सोलह हाथ लम्बी, आठ हाथ चौड़ी वाहीतिक दी थी।[2] खोम एव कोदुम्बर प्रदेश के वस्त्रो की भी दूर दूर तक मॉग थी।[3]

राजा–महाराजों एवं समृद्ध लोगों के वस्त्रों में सोने–चॉदी से सजावट की जाती थी। राजाओं की पगडीयाँ स्वर्णयुक्त होती थी।[4]

रूई धुनने के लिए स्त्रियाँ एक धनुषाकार यन्त्र का उपयोग करती थीं, जो आजकल के पींजन या धुनकी के समान होता था। जातक में स्त्रियों के कपास धुनने के इस धनुष (इत्थीनं कप्पास–पोत्थन–धनुका) का उल्लेख है।[5]

महीन सूत कातकर (सुखुम सुत्तानि कन्तित्वा) उनकी गुण्डी(गुलं) बनाने की क्रिया भी बुद्ध काल में ज्ञात थी।[6]

कपड़े बेचने वाले व्यापारी 'दुस्सिका' कहलाते थे। बड़े–बड़े लोगों के यहाँ बहुमूल्य वस्त्रों के गोदाम भरे रहते थे। साकेत के धनंजय सेठ के यहाँ कई 'दुस्स कोट्ठागार' (कपडे के गोदाम) थे।[7]

वस्त्रों की रंगाई कला पर भी प्रारम्भिक बौद्ध साक्ष्यों से प्रकाश पड़ते है। भगवान् बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रित करने गये लिच्छवि नीले, पीले, लाल, श्वेत परिधानों से सुसज्जित थे।[8] भिक्षुणियों को रंग–विरंगे चीवरों को पहनने की मनाहीं थी।[9]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१

२. मज्झिम निकाय, २/४/८,

३. महावेस्सन्तर जातक, संख्या ५४७, महाजनक जातक, जातक संख्या ५३६;

४. जातक, जिल्द पाँचवी, पृ० ३२२

५. महाजनक जातक, संख्या ५३६;

६. जातक, जिल्द छठी, पृष्ठ ३३६

७. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल

८. दीघ–निकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त

६ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/४/१०;

कभी–कभी ये रंग इतने तेज होते थे कि उनसे आभा निकलती थी। पुक्कुस द्वारा अर्पित इगुर वर्ण के चमकते हुए दुशाले से आच्छादित बुद्ध सोने के वर्ण जैसी शोभा देते थे।[१] विनयपिटक के महावग्ग में पूरी रंगाई– प्रक्रिया पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। भिक्षुओं को ६ रंगों से चीवर रंगने की अनुमति थी। (१) मूल (= जड़ से निकला) रंग (२) स्कंध रंग (३) त्वक् (=छाल) का रंग (४) पत्र (= पत्ते का) रंग (५) पुष्प–रंग (६) फल–रंग[२]

कच्चे रंग से रंगा वस्त्र दुर्गन्धयुक्त होता था इसलिए रंगने से पहले उसे पकाया जाता था।[३] पानी या नख पर बूँद डालकर परीक्षा ली जाती थी कि रंग पका या नहीं।[४] रंगने के लिए नाँद, दण्ड सहित थाल, कूँले, घड़े, रजन–द्रोणी (पत्थर या किसी और चीज का रगने का विशाल पात्र जिसका एक नमूना साँची में है) की आवश्यकता होती थी।[५] वस्त्रों कोक रंगने के बाद सुखाने के तृण की संथरी, बॉस एवं रस्सती का प्रयोग होता था।[६]

वस्त्र रंगने का कार्य रजक या रजकार लोग ही प्रायः करते थे। कालिमा रहित शुद्ध वस्त्र ही अच्छी तरह से रंग पकड़ता है।[७] रंगने के पूर्व कपड़े को अत्यन्त स्वच्छ एवं धवल बना दिया जाता था। यदि वस्त्र गन्दा रहता था तो उस पर लाल, गुलाबी, नीला, पीला आदि कोई भी रंग अपनी वास्तविक आभा नहीं छोड़ पाता था।[८]

---

१. दीघ–निकाय, महापरिनिब्बाण–सुत्त

२. विनयपिटक, महावग्ग, ८/३/१;
अनुजानामि, भिक्खवे, ६ रजनानि– मूलरजनं, खन्धरजनं, तचरजनं, पुप्फरजनं, पुप्फरजनं, फलरनं ति।

३. तेन खो पन समयेन भिक्खू सीतुदकाय चीवरं रजन्ति रजन्ति।
चीवरं दुग्गन्धं होति – – अनुजानामि, भिक्खवे, रजनं पचितुं

४. अनुजानामि, भिक्खवे, उदके वा नखपटिठकाय या थेवकं दातुंति

५. अनुजानामि, भिक्खवे, रजनलुंक दण्डकथालकं ति
अनुजानामि, भिक्खते, रजनकोलम्ब रजनघटंति।
अनुजानामि भिक्खवे, रजनदोणिकं ति।

६. विनयपिटक, महावग्ग, ८/३/४;

७. दीघ–निकाय, महापदान–सुत्त
हि० अनु० पृष्ठ–१०७

८. अखिलेश्वर मिश्र, शोध प्रबन्ध, पृष्ठ

संयुक्त–निकाय में रंगरेज या चित्रकार द्वारा रंग या लाक्षा या हल्दी या नील या मंजीठ द्वारा अच्छी तरह से साफ और चिकना किये फलक पर, या भित्ति पर, या कपड़े के टुकड़े पर सभी अंगों से युक्त स्त्री या पुरूष के रूप उतारने का उल्लेख आता है।[1]

मृदभाण्ड कला

मिट्टी के बर्तन, खिलौने आदि का निर्माण करने वाले को कुलाल या कुम्भकार कहा जाता था। कुम्भकार अपनी कुशलता का परिचय देते हुए चाक को घुमाकर अनेक प्रकार के बर्तनों का निर्माण करता था जिसका प्रयोग जन–सामान्य से लेकर राजाओं द्वारा भी किया जाता था। दीघ–निकाय के सामञ्ञफल–सुत्त में उल्लिखित है कि 'चतुर कुम्हार या कुम्हार का लडका अच्छी तरह से तैयार की गई मिट्टी से जो बर्तन चाहे वही बना ले एवं बिगाड़ दे।[2]

कुस जातक में बर्तन की प्रक्रिया वर्णित है। कुम्हार का शिष्य मिट्टी का एक लोदा चाक पर रख घुमाया। एक बार घुमाया हुआ चाक मध्याह्न तक बिना रुके घूमता ही रहा। उसने नाना प्रकार के छोटे–बड़े बरतन बनाये। प्रभावती (अपनी प्रेमिका) के लिए बरतन बनाते हुए उन पर नाना प्रकार के चित्र बना दिये – – – – सभी बरतन सुखकर, पका कर घर भर दिया गया। कुम्हार नाना प्रकार के बरतन ले राजकुल पहुँचा।[3] मिट्टी के पात्र की समाज में बड़ी मॉग थी। राजाओं के अपने कुम्हार होते थे जो राजकीय–कुम्हार कहे जाते थे जो राजकुल की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[4]

---

१. सेय्यथापि भिक्खवे, रजको वा चित्तकारको वा सति
रजनाम वा लाखाय वा हालिद्दया वा नीलिया वा
मज्जिट्ठाय वा सुपरिमट्ठे वा फलके भित्तिया वा
दुस्सपट्ठे वा इत्थिरूप वा पुरिसरूपं वा अभिनिम्मिनेय्य सब्बंगपच्चंग; – – –"
संयुत्त–निकाय, हि० अ० पृ० २३६;

२. दीघ–निकाय, सामञ्अफत सुत्त, १/२/३
सेय्यथापि, महाराज, दक्खो कुम्भकारो वा कुम्भकारन्तेवासी वा सुपरिकम्मकताय मत्तिकाय यं यदेव भाजनविकतिं आकङ्खेय्य तं तदेव करेय्य अभिनिप्फादेय्य।

३. कुस जातक, संख्या ५३१

४. चुल्लसेट्ठि जातक, संख्या ४; दलहधम्म जातक, संख्या ४०६;

इसके अतिरिक्त जनसामान्य एवं भिक्षुओं द्वारा मृण्भाण्डो का बड़ी मात्रा में उपयोग किया जाता था। महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओं को बहुमूल्य धातुओं से दूर रहने एवं लोहे एवं मिट्टी के पात्रों का प्रयोग करने के लिए कहा था।[१] इसके दो कारण स्पष्ट होते हैं। पहला तो यह कि मृण्भाण्ड सस्ते होते थे एवं दूसरा ये स्वच्छता की दृष्टि से भी उपयोगी थे।[२]

कुम्भकार सर्वप्रथम कच्ची मिट्टी प्राप्त करता था। प्रायः कुम्भकारों का निवास स्थान गाँव या नगरों के बाहर ही रहता था।[३] इससे उनको यह सुविधा रहती थी कि उन्हें कच्ची मिट्टी की कमी नहीं पडती थी जिसकी सहायता से वे वर्तनों का निर्माण करते थे। पदकुसल माणव में उल्लिखित है कि द्वार–ग्राम पर रहने वाले एक कुम्हार रोज रोज एक ही जगह से मिट्टी लाता था, जिससे पर्वत के अन्दर एक गढ़ा खन गया।[४]

मिट्टी प्राप्त करने के बाद कुम्हार उसमें विभिन्न वस्तुयें मिलाकर उसे समान बनाने लायक तैयार करता था। जातकों से पता लगता है कि मिट्टी में गाय का गोबर एवं भूसी मिलायी जाती थी।[५] फिर मिट्टी के लोदे को चाक पर रखकर चाक घुमाकर विभिन्न मृण–वस्तुओं का निर्माण होता था।[६] चाक पर निर्मित वर्तनों को धूप में सुखाने के बाद ऑवा पर पकाया जाता था।[७]

मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त कुम्भकार बच्चों के खेलने के लिए विभिन्न खिलौनों का भी निर्माण करते थे। एक ब्राह्मणी आसन्न–प्रसवा होने पर ब्राह्मण से अपने बच्चे के लिए बाजार से वानर का बच्चा (खिलौना) लाने को कहती है। ब्राह्मण उसे आश्वस्त करता है कि, 'यदि

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग

"न, भिक्खवे, चित्रानि पत्तमण्डलानि धरेतब्बानि रूपकाकिण्णानि भित्तिकम्मकतानि। यो धारेय्य, आपत्ति दुक्कटस्स/"

२. अखिलेश्वर मिश्रा, शोध प्रबन्ध, पृ० १२२;

३ कुम्भकार जातक, संख्या ४०८; पदकुसल माणव, जातक, संख्या ४३२;

४. जातक संख्या ४३२;

५. जातक द्वि पृ० ८०;

६. जातक संख्या ५३१; महाउम्मग जातक सख्या ५४६;

७. जातक–निकाय, २/१२/६/१/

आप कुमार को जनेगीं, तो उसके लिए मैं बाजार से मक्रट–शावक (खिलौना) खरीद कर ला दूँगा।'[१] अन्यत्र एक कुमार द्वारा अनेक प्रकार के खिलौने यथा वंकक (=वंका), घटिक (= घडियां) चिंगुलक (= मुँह का लट्टू), पात्र–आढ़क (= घड़ियां) रथक (= खिलौने की घड़ियां), चिंगुलक (= चिगुलियां), धनुक (= धनुही) से खेलने का उल्लेख है।[२]

मिट्टी के बर्तनों एवं खिलौनों पर चित्रकारी एवं रंगाई भी की जाती थी। कुसलजातक में बर्तनों पर अनेक प्रकार की चित्रकारी करने का वर्णन है।[३] कुम्भकारों के अतिरिक्त बर्तनों एवं खिलौनों को रंगने वाला भी एक वर्ग था। इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि कार्य की सुलभता की दृष्टि से सम्भवतया बर्तन बनाने एवं रंगने का कार्य अलग–अलग कलाकार करते थे। एक ब्राह्मण अपने पुत्र के लिए मक्रट–शावक (खिलौना) लेकर, रक्तपाणि रजक पुत्र (= रंगरेज के बेटे) के यहाँ जाता है और उससे मक्रट–शावक को पीले रंग से रंगवाना, मलवाना एवं दोनों तरफ से पालिश करवाना चाहता है।[४] महात्मा बुद्ध ने रूप खीचें हुए एवं रंग से चित्रित पात्र–मंडल को धारण करने की मनाही की थी।[५]

रतिलाल मेहता के अनुसार कुम्भकारी की कला भारत की प्रतिष्ठित कला थी।[६] बाजार में मृण्भाण्डों का बड़े पैमाने पर क्रय–विक्रय होता था। मज्झिम निकाय के मक्रट–शावक प्रसंग से स्पष्ट है कि मिट्टी के पात्र एवं खिलौने की दुकानें लगती थीं।[७]

धम्मपद अठ्ठकथा से हमें पता चलता है कि बनारस का एक कुम्हार मिट्टी के बरतनों को एक खच्चर पर लाद कर पास के शहरों में बेचा करता था। एक समय तो वह अपने बरतनों के साथ तक्षशिला तक धावा मार आया।[८]

---

१ मज्झिम–निकाय, उपालि सुतन्त, २/१/६ हि० अ० पृष्ठ २२६

२. मज्झिम निकाय, हि० अ० पृष्ठ १५७–१५८

३. जातक संख्या, ५३१;

४. मज्झिम–निकाय, उपालि सुत्तन्त, २/१/६ हि० अ० पृष्ठ २२६;

५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/१० हि० अ० पृष्ठ ४२४

६. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिण्ड इण्डिया, पृ० २००

७. मज्झिम निकाय २/१/६

८. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृष्ठ ५७;

स्पष्ट है मिट्टी की वस्तुओं की काफी खपत थी एवं समाज का एक हिस्सा कुम्भकारीद्वारा जीवन यापन करता था।

कुम्भकार अपने कार्य में अन्य व्यक्तियों की सहायता भी लेता था। आचार्य कुम्भकार एवं उसके शिष्य के अनेक प्रसंग हमें प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते हैं।[१]

कुछ कुम्भकारों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति सम्मानजनक थी। अंगुत्तर–निकाय मे एक कुम्भकार, द्वारा रखे गये भाड़े के मजदूर की चर्चा आयी है जो दिनभर मिट्टी पोते हुए कार्य करता था।[२] परन्तु ये सभी कुम्भकारों पर लागू नहीं होता था।[३]

मज्झिम–निकाय में वेहलिंग नामक ग्राम निगम में घटिकार नामक, उच्च मानवीय गुणों से युक्त कुम्भकार का उल्लेख है। उसके चरित्र का वर्णन करते हुए उसे 'हिंसा से विरत, चोरी से विरत, काम–मिथ्याचार से विरत, मृषावाद (= झू०) से विरत, नशीली चीजो से विरत तथा 'एकाहारी, ब्रह्मचारी, कल्याणधर्मा (= पुण्यात्मा) बताया गया है। उसके गुणों से प्रसन्न हो महात्मा बुद्ध ने उसके यहाँ ही वर्षावास स्वीकार किया, काशिराज किकि के यहाँ नहीं।[४]

वर्द्धकीय कार्य -

काष्ठ सम्बन्धी सभी कार्य बढ़ई करते थे। ये लकड़ी से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करते थे। लकड़ी प्राप्त करने के लिए बढ़ई जंगल में जाते थे। अलीनचित्त जातक में बढ़इयों के द्वारा काष्ठसंचय करने की कठिन प्रक्रिया का वर्णन है। वाराणसी के समीप एक बढई ग्राम था जहाँ पाँच सौ बढ़ई रहते थे। 'वे नौका से नदी के श्रोत के ऊपर की तरफ जाते। वहाँ जंगल में घर बनाने के लकड़ी काटकर वही एक तल्ले तथा दो तल्ले का मकान बना, खम्भे से आरम्भ करके सभी लकड़ियों पर चिन्ह लगाते फिर उन्हें नदी के किनारे लेजा नौका पर चढ़ा श्रोत के अनुसार नगर में आते। वहाँ जो जैसे घर चाहता, उसे वैसा बना देकर कार्षापण ले फिर वैसी ही जा घर के सामान लाते।[५] अन्यत्र भी बढ़इयों के जंगल में जाकर लकड़ी लाने का उल्लेख है।[६] तत्कालीन समय में बनों की अधिकता थी। स्थान–स्थान पर आरण्य का वर्णन पालि साहित्य में मिलता है।

---

१. कुस जातक, महा जातक;
२. अ० नि० ष० पृ० ३७२
३. महाउम्मग्ग जातक, संख्या ५४६;
४. मज्झिम–निकाय, घटिकार–सुत्तन्त, २/४/१, हि० अ० पृष्ठ ३२५
५. अलीनचित्त जातक
६. जातक संख्या, २८३,

परन्तु इनको उपभोग के लिए तेजी से काटा भी जा रहा था। संयुक्त निकाय में बनों को साफ करने का प्रसंग आया है।[१] बढ़ई कुल्हाड़ी एवं छूरे की सहायता से पेड़ काटा करते थे। बड्ढकीसूकर जातक में बढ़ई द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले औजारों में – छूरी, कुल्हाड़ी, फरसा, रुखानी, मोगारी का उल्लेख है।[२] इन औजारों के अलावा वे वसूले का भी प्रयोग करते थे। बढ़ई के शागिर्द के वसूले के हथ्थड (= वेट) में देखने से अंगुलियों और अंगूठे के दाग पडे मालूम होते हैं। बढ़ई को ऐसा ज्ञान नहीं रहता कि वसूले का हथ्थड़ आज इतना घिसा कल इतना घिसेगा। किंतु उसके घिस जाने पर मालूम होता है कि वह घिस गया।[३]

बढई का पेशा पूरी तरत से व्यवस्थित था, इनका स्थान–स्थान पर स्थानीकरण हो गया था। स्थान–स्थान पर सैकड़ों काष्ठकार एक स्थान पर निवास करते थे।[४] सम्पन्न एवं कुशल बढ़इयों की संज्ञा 'दारू कम्मिक' थी। इन बढ़इयों का गहपति के रूप में भी उल्लेख मिलता है। अंगुत्तर निकाय में भिक्षुओं को दान देने वाले समृद्ध गहपति का उल्लेख आता है।[५]

अष्ठाध्यायी में बढ़इयों की कई श्रेणियां गिनाई गई है। एक वो बढ़ई थे जो राजा के लिए काम करते है, जनसाधारण के लिए कार्य नहीं करते थे।[६] दूसरे कोटि के बढ़ई वे थे जो सर्वसाधारण के लिए काम करते थे।[७] इनके भी दो भेद थे– प्रथम वे जो एक स्थान पर अपने ठीहे पर ही बैठ कर काम करते थे इनका सम्मान अधिक थे। दूसरे वो जो मजदूरी पर स्थान–स्थान पर जाकर कार्य करते थे। इसमें पहले को कौटतक्षा तथा दूसरे को ग्राम तक्षा कहा गया है। धम्मपद मे लकड़ी को खराद कर चिकना बनाने का कला का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के कार्य करने वाले बढ़इयों की संज्ञा तच्चक थी।[८]

---

१. सयुक्त–निकाय १/८/१

२. जातक संख्या, २८३ वड्ढकीसूकर जातक।

३ संयुक्त–निकाय, तीसरा खण्ड, इक्कीसवॉ संयुक्त, नावसुक्त

४. समुद्वाणिज जातक, संख्या, ४६६; जातक संख्या २८३;

५. अंगुत्तर निकाय तृ० ६/६५
दारू कम्मिको गहपति भगवा एतदवोच – ''अपि नु ते, गहपति, गहपति कुते दानं दीयती'' दीयाति में भन्ते, कुले दानं। तं च खो ये ते भिक्खु आरञ्ञिका पिण्डपातिका पंतुकूलिका अहरन्नो वा अरहत्तनग्गं वा सम्मपन्ना, तथा रूपेसु में, भन्ते भिक्खूसु दानं दीयति।

६. पाणिनी, अष्टाध्यायी; २/२/१ तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति।

७. पाणिनी, अष्टाध्यायी; ४/४/६५

८. धम्मपदं, पण्डितवग्गो, पृ० ३७, दासं नमयन्ति तच्छका

बढई छोटी–छोटी वस्तुओं से लेकर रथ, नाव एवं प्रासादों का भी निर्माण करते थे। वे चारपाई, पीढ़ा, लोगों के लिए घर, नौका,[1] रथ,[2] कुर्सी, पलंग ओखली, करघा, पादुकाएं, आसन, मंच आदि का निर्माण करते थे।

ये धनाढ्य लोगों के लिए बहुमूल्य पलंग, जिसमें चांदी, सोना आदि जड़ा जाता था, का निर्माण करते थे।[3]

राजगृह में भगवान बुद्ध की भेंट एक यानकार से हुई। उस समय वह रथ के पुट्ठा बना रहा था। बगल में एक पूर्व यानकार का पुत्र उससे वह कला सीख रहा था। इससे स्पष्ट है कि बढ़ई अपना पैतृक व्यवसाय परम्परागत रूप से प्रायः अपना लेते थे।[4] यानकार के साथ–साथ रथकार का भी उल्लेख मिलता है। प्रतीत होता है कि यानकार और रथकार दोनों एक ही प्रकार का कार्य करते थे। रथकार सवारी के लिए एवं युद्धोपयोगी दोनो ही प्रकार के रथों का निर्माण करते थे[5] अंगुततर निकाय में एक राजात ने रथकार को बुलाकर युद्धोपयोगी चक्के का निर्माण करने का आदेश दिया था।[6] रथ निर्माण के लिए उन्हें देखना पड़ता था कि किस वृक्ष की लकड़ी उनके पहिये के डण्डों, चक्र–नाभियों, बम्बुओं एवं चक्के के घेरे के लिए अधिक उपयोगी होगी।[7]

---

१. जातक संख्या, ४६६

२. फन्दक जातक, संख्या ४७५

३. संयुत्तनिकाय, तृ० २२/६६/१०६, रञ्ञों सतो खत्तियस्स युद्धावसित्तस्य चतुरासी तिपलकं सहस्सानि अहेतु।

४. म० नि० प्र० ५/४/२५

५. म०ि०द्वि० ८/३/५
अहं हि भन्ते, रथिको सज्जातो कुसलो रथस्स अङ्ग पच्चङ्गानं
सब्बानि मे रस्थस्स अङ्ग पङगानि सुविदितानि
ठानसोवेत्तं ये पटिमासेय्या" ति।

६. अंगुत्तरी–निकाय, प्रथम ३/२/५
राजा सचेतनो रथकारं आमनतेसि– इतो में सम्म रथकार, छन्नमासानं अच्चयेन सङ्गामो भविस्सति। सकिस्ससि मे सम्म रथकार, नवं चक्कयुग कातुंति।

७. जातक संख्या, ४७५

हाथी दाँत का कार्य-

हाथी दांत का कार्य करने वाले दन्तकार कहलाते थे। ये अपने हस्त कौशल एवं कल्पना शक्ति से हाथी–दांत से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करते थे। हाथी दांत एक मूल्यवान वस्तु के रूप में जाना जाता था। दीघनिकाय में बहुमूल्य पंलग के सम्बन्ध में कहा गया है कि सोने, चांदी, हीरे के अलावा उसका एक पाया हाथी दांत का था।[१]

हाथी दांत के लिए जंगलों में जाकर हाथी का शिकार किया जाता था। महाजनक जातक में कहा गया है कि हाथी अपने दांत के कारण मारा जाता था।[२] हाथी दांत का काम करने वालों की पूरी–पूरी बस्ती एक जगह बसी दिखायी देती है। इस प्राकर से उद्योग का एक प्रमुख केन्द्र काशी था।[३] अच्छा दांत प्राप्त करने के लिए जीवित हाथी को ही पकड़ा जाता था, क्योंकि मृत हाथी की अपेक्षा जीवित हाथी का दांत अधिक अच्छा माना जाता था।[४] दीघनिकाय में चतुर, हाथी दांत का काम करने वाले दन्तकार द्वारा अच्छे तरह से सोधे गये दांत से इच्छित वस्तु बनाने का उल्लेख मिलता है।[५]

हाथी दांत से अनेकानेक वस्तुएं बनायी जाती थी। इनसे विभिन्न प्रकार के आभूषण का निर्माण किया जाता था। वाराणसी के दन्तकार गली में चूड़ी निर्माण का उल्लेख है।[६]

---

१. दीघनिकाय, महावग्ग, महासुदस्सन सुत्त, २/१७/६; चतुरासीति पल्लड्कसहस्सानि अहेतु सोवण्णमयानि रूपियमर्यानि दन्तमर्यानि सास्मयानि गोनकत्थतानि।

२. जातक संख्या, ५३६; अजिनम्हि हञ्जते दीपि नागो दन्तेहि हञ्जति,

३. कासाव जातक, संख्या २२१

४ जातक प्र०, पृ० ३२, द्वि०पृ० १६७, प० ४५, ४६ ब०पृ० ६१

५. दीघनिकाय १/२/३;
सेय्यथा वा पन, महाराज, दक्खो दन्तकारो वा दन्तकारन्तेवासी वा सुपरिकम्मकतस्मिं दन्तस्मि, यं सदेव दन्तविकति आकङ्खेय्य तं तदेव करेय्य अभिनिष्फादेय्य।

६. जातक संख्या, २२१

इसके अतिरिक्त दर्पण के मूठ, बाजूबन्द[1], भी हाथी दांत के बनाये जाते थे। सूचीघर,[2] अंजनदानी,[3] दण्ड[4] खूंटी[5] आदि का सामान्य प्रयोग की वस्तुएं भी दांत से बनायी जाती थी। रथ के सजावट, पलंग निर्माण में भी कीमती हाथी दांत प्रयोग होत था। पूरा का पूरा हाथी दांत से निर्मित प्रासाद का उल्लेख भी गया है।[6]

आखेट या शिकार

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में आखेट–दृश्यों का बाहुल्य है। शिकारियों का उल्लेख वारम्बार आता है। स्पष्ट है शिकार के माध्यम से जीविकोपार्जन करना तत्कालीन समाज का एक प्रमुख व्यवसाय था।

शिकारी जंगलों में जा पशुओं को मार, उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाते थे। मंस जातक में एक शिकारी गाड़ी पर बहुत सा मांस लिए शहर में बेचने को जाता है।[7] जगह–जगह मांस की दुकाने भी सजी होती थी। भेड़ मारने वाले, सुअर मारने वाले, मछली मारने वाले, बकरी–भेड और भैंस मारने वालों की दुकानों का उल्लेख निमितजातक में आता है।[8]

पशुओं के साथ–साथ पक्षियों का शिकार भी किया जाता था पक्षियों को पकड़ने वाले चिडिमार नाम से जाने जाते थे। बटेरों का शिकार जंगल से बहुत से बटेरों को पकड़कर खरीददारों के हाथ उन्हें बेंचकर अपनी जीविका चलाता था।[9] कभी–कभी पूरे–पूरे गांव द्वारा

---

१. जातक प्र०, पृ० ३२०, द्वि १६७

२. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, ५/८६

३. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/११ हिन्दी अनुवाद, पृ० २१८

४ विनयपिटक, चुलवग्ग, ५/१/१२

५. विनयपिटक, चुलवग्ग, ५/१/१० हिन्दी अनुवाद पृष्ट ४२४

६. जातक संख्या, २२०, धम्मद्ध जातक

७. जातक संख्या, ३१५, मंस जातक

८. जातक संख्या, ५४१, निमि जातक

६. जातक संख्या ३३, सम्मोदन जातक

शिकार को जीविकोपार्जन का साधन बाने का उल्लेख है।[1] वाराणसी के कुछ प्रत्यन्त देशवासी जहां जहाँ बहुत मांस मिलता था, वहीं–वहीं गांव बसा लेते थे एवं जंगल में घूमकर मृगादि मार कर, मांस लाकर अपने स्त्री बच्चों का पोषण करते थे।[2] शिकारी गांव का भी उल्लेख अनेकत्र आया है।[3]

मछुआरों का उल्लेख भी अनेकत्र मिलता है। ये नदी, जलाशय एवं छोटे–छोटे गड्ढ़ों से मछली पकडत्रे थे। मछली पकड़ने के लिए मछुआरें प्रायः जाल का प्रयोग करते थे।[4] इसके अतिरिक्त चारा लगाकर अंकुसी भी पानी में डाली जाती थी। चारे के लोभ से मछली उसमें फस जाती थी।[5] रतिलाल मेहता के अनुसार शिकार उवं मत्स्य–पाल राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान देते थे।[6] कभी–कभी पूरे मछुआरों का एक गांव भी बसा होता था। कोशल राष्ट्र में सहस्र घरों वाला मछुआरों का एक गांव था।[7]

शिकार के तौर तरीकों का रोचक वर्णन हमें प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में मिलता है। मगध देशवासी मृगों को मारने के लिए जहाँ तहां लोग गढ़े खोदते, कांटे लगाते, पत्थर–यंत्रों (गुलले) को सवांरते, कूट–पाश आदि बन्धन फैलाते।[8] कोशल देशवासियों ने अञ्जनवन उद्यान को घेर कर, उस उद्यान में दरवाजा लगाकर, वहाँ एक पुष्करिणी खोदी एवं घास बो दी। फिर हाथ में दण्ड मुद्गर आदि ले, जंगल में घुस, झाड़ियों को पीटते हुए, मृगों को भगाते हुए उस उद्यान में उसी प्रकार प्रविष्ट कराया जैसे गौवें व्रज में दाखिल होती है, फिर उद्यान का दरवाजा बन्द कर उनका शिकार किया।[9] मृग आदि पशुओं को आकर्षित करने के लिए बहेलिये जंगल मे निवाप (शिकार के लिए जंगल में बोये खेत) का निर्माण करते थे।[10] पशुओं के शिकार में

---

१. साम जातक संख्या, ५४०

२. जातक संख्या ४८६ महाउक्कुस जातक

३. जातक संख्या, ५०१, रोहन्त मिग जातक; जातक संख्या ५३३, चुल्लहंस जातक

४. संयुत्तनिकाय, पहला खण्ड, दूसरा संयुत्त, ग्यारहवा सुत्त, हि०अनु०, पृ० ५४, जातक संख्या, ४१

५. संयुत्तनिकाय, दूसरा खण्ड, सोलहवां सयुत्त, हि०अनु०, पृ० २८७

६. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० १६२

७. लोसक जातक, संख्या ४१

८. जातक, लक्खण जातक, संख्या ११; मनुस्सा सस्सखादकानं मिगानं मारणत्थाय तत्थ तत्थ ओपातं खणन्ति सूलानि रोपेन्ति पासाणयन्तानि सज्जेतिनत कूटपासादयो पारो ओड्डेन्ति।

९. जातक संख्या, ३८५, नन्दियमिगराज जातक

१०. मज्झिम निकाय, हि०अनु०, पृ० ६६, १/३/५

विभिन्न हथियारों का प्रयोग होता था। धनुष–तरकष[1], कांटे गुलेल,[2] झाड़ी, जाल, लाठी, मुद्गर[3]–कुदाल[4], जहर बुझा तीर[5] आदि का प्रयोग करते थे। शिकार में कुत्तों की भी सहायता ली जाती थी।[6]

वृक्षों के ऊपर अटारी (मचान) बनाकर भी शिकारी बैठा करते थे एवं नीचे आये पशुओं को घायल कर उनका शिकार करते थे।[7] छद्दन्त जातक में हाथी के शिकार का विस्तृत ब्यौरा है जिसमें वह हाथी को गढ़हे में फंसा कर विष–बुझा तीर से बींधने जाता है।[8] गढ़हे का प्रयोग मृग आदि को फंसाने के लिए भी किया जाता था।[9]

चिडिमार पक्षियों को फंसाने के लिए बालो का फंदा, लाठी एवं जाल[10] का प्रयोग करते थे। विविध पक्षियों की आवाज की नकल करने में भी ये चिड़िमार बहुत कुशल होते थे। बटेरों का एक शिकारी बटेरों की आवाज करके उन्हें इर्द–गिर्द इकट्ठा कर लेता था।[11]

इन व्यवसायों में केवल निम्न जाति के लोग ही नहीं लगे थे बल्कि शिकारी ब्राह्मणों का भी उल्लेख मिलता है। वाराणसीवासी एक ब्राह्मण विद्यार्थी ने शिकार को अपनी आजीविका के साधन के रूप में चुना। इन्द्रिय जातक में एक ब्राह्मण मृगों को मार कर, उनका मांस खाता हुआ अपना पोषण करता था।[12] इन आखेटकों की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। वे सीमित साधनों से अपना जीवन यापन करते थे। "क्या तुमने कही देखा या सुना है कि कोई

---

१. चुल्लनन्दिय जातक, संख्या २२२
२. लक्खण जातक, संख्या ११ रोहनत मिग जातक, ५०१
३ नन्दियमिगराज जातक, संख्या ३८५
४. कुदाल जातक, संख्या ७०
५. जातक संख्या, ५१४, छंदक जातक
६ भल्लटिक जातक, संख्या ५०४
७. जातक संख्या, २१
८. छद्दन्त जातक संख्या, ५१४
९. जातक संख्या, ११
१०. चुल्लहंस, ५३३
११. जातक संख्या, ३३, सम्मोदमान जातक
१२. इन्द्रिय जातक

भेड मारने वाला हो– कोई सुअर मारने वाला हो– कोई चिड़िमार हो– कोई हिरन मारने वाला हो और वह मृगो को मार–मारकर बेंचता हो और उस कर्म से, उस जीविका के साधन से हाथी पर चढ़ने वाला हो गया, घोडे पर चलने वाला हो गया हो, रथपर चढ़ने वाला हो गया हो (या किसी दूसरी सवारी पर चढ़ने वालो हो गया हो), भोग्य पदार्थों का स्वामी हो गया हो, अथवा बहुत ऐश्वर्यशाली हो गया हो?''[१]

यद्यपि बौद्धकालीन भारत में हम स्थान–स्थान पर शिकारियों, चिड़िमारों मछुआरों का उल्लेख पाते है परन्तु इसके व्यवसाय को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अंगुत्तर निकाय में इस प्रकार के क्रूर–कर्म करके जीवन–यापन करने वालों की निन्दा की गई है।[२]

चोर-

चोरी एवं लूटपाट द्वारा जीविकोपार्जन करने वालों का भी एक वर्ग समाज में विद्यमान था। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में मार्ग में जाते हुए व्यापारियों के समूह (सार्थ) एवं अन्य व्यक्तियों के साथ लूट–पाट की घटनाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं। खुरप्प जातक में पांच सौ गाडियों वाले व्यापारियों के काफिले पर चोरों के समूह द्वारा हमला करने का विवरण मिलता है।[३] इसी प्रकार एक अन्य जातक कथा में रात्रि के समय मार्ग में सोये हुए व्यापारियों को चोरों द्वारा विभिन्न अस्त्र शस्त्र लेकर घेरने की बात कही गयी है। साकेत से श्रावस्ती जा रहे भिक्षु एवं भिक्षुणियों को मार्ग के बीच में चोरों ने निकल कर लूटा और किन्हीं–२ को मार डाला।[४]

घर में घूस कर भी 'लूट–पाट की जाती थी।[५] एक स्थल पर चोरों ने मन्त्रणा की ''ऐसी सुरंग लगानी चाहिए। ऐसी सेंध करनी चाहिए। 'सुरंग' और 'सेंध' मार्ग–सदृश है, 'तीर्थ' सदृश है। उन्हे रुकावट रहित, बाधा रहित करके ही सामान चुराना चाहिए और सामान लेकर जाते समय (आदमियों) को मारकर ही समान ले जाना चाहिए। ऐसा करने से कोई उठ (कर पकड़)

---

१. अंगुत्तरनिकाय, तृतीय खण्ड हि०अनु०, पृ० २०

२. अगुत्तर निकाय, खण्ड तीन, हि०अनु०, पृ० ८६

३. खुरप्प जातक, जातक संख्या २६५;

४. विनयपिटक, महावग्ग, १/३/१४;

५. गण्डतिन्दु जातक, जातक सख्या ५२०;

नही सकेगा। चोर को शीलवान् नहीं होना चाहिए, उसे बद–मिजाज, कठोर एवं जोर–जबरदस्ती करने वाला होना चाहिए।''[1]

ये चोर भी कभी–२ अपने संगठन बना लिया करते थे उत्तर पाञ्चाल नगर में ५०० चोरो का निवासस्थान चोरग्राम था।[2] पकड़ जाने पर इन चोरकर्म करने वाले को शासन की ओर से कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। काशी नरेश के सामने चार चोर लाये गये। राजा ने आज्ञा दी कि उनमें एक को हजार कॉंटेदार कोड़े लागये जाय। दूसरे को बेड़ियॉ पहनाकर जेल–खाने में डाल दिया जाय, तीसरे पर शक्ति–प्रहार किया जाय एवं चौथे को सूली पर चढा दिया जाय।[3] कणवेर जातक में नगर में डाका डालने वाले एक बलवान चोर को नगर कोतवाल ने उसके दोनों हाथ पीछे कस कर बाँध दिये, गर्दन में लाल कनेर की माला डलवाकर, सिर पर ईंट का चूरा बिखरवा दिया और उसे चौरस्ते–चौरस्ते पर चाबुक मारता हुआ, जोर से ढोल वजवाकर बधस्थल की ओर ले जाने का वर्णन है।[4] दीघ–निकाय में इस चोरी–डकैती की समस्या का मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हुए महाविजित राजा को उसके ब्राह्मण पुरोहित ने सलाह दी कि 'राजन् आप समझते है कि 'राजन आप समझते हैं कि डाकुओं की समस्या वध, बन्धन, हानि, निन्दा, निर्वासन से समूल समाप्त हो जायेगी परन्तु इस प्रकार के दण्ड द्वारा समस्या का समाधान असम्भव है। इस समस्या के समाधान के लिए आप कृषि की इच्छा रखने वाले मनुष्य को बीज एवं भोजन आदि से सहायता करे, वाणिज्य के इच्छुक को पूँजी आदि दे, राजसेवा में आने का उत्साह रखने वाले को भत्ता–वेतन दे – इस प्रकार अपने अपने काम (रोजगार) में लगे लोग आपके जनपद को नहीं सतायेंगे आप – – – को महान् (धन–धान्य की) राशि (प्राप्त) होगी, जनपद (=देश), पीड़ा रहित कंटक रहित एवं क्षेम–युक्त होगा।

---

१. मह्रिलामुख जातक, जातक सं० २६;

२. सत्तिगुम्ब जातक, जातक संख्या ५०३;

३. मूगपक्ख जातक, जातक संख्या ५३८;

४. कणवेर जातक, जातक संख्या ३१८;

गणिका -

हर काल एवं देश की भाँति बुद्धयुग में गणिकाएँ समाज में विद्यमान थी। प्रसिद्ध गणिकाएँ नगर की शोभा एवं सौभाग्य समझीं जाती थी। वैशाली की गणिका आम्रपाली अभिरूप, दर्शनीय, परमरूपवती, नाच, गीत और वाद्य में चतुर थी। उससे वैशाली नगरी की और भी शोभा एवं प्रसन्नता बढ़ गयी थी।[१] इसी प्रकार अट्ठान जातक में वाराणसी की वेश्या को नगर शोभा, सुन्दर एवं सौभाग्यशालिनी कहा गया है। राजगृह का नैगम किसी काम से वैशाली गया वहाँ से लौटने पर उसने मगध नरेश बिम्बसार से कहा "अच्छा हे देव। हम भी गणिका रक्खे?" तब कुमारी सालवंती का चयन हुआ।

समृद्ध नगरों में गणिकाओं का मूल्य भी अधिक होता था। आम्रपाली चाहनेवाले मनुष्यों के पास पचास कार्षापण प्रति रात पर जाया करती थी। सालवती का मूल्य सौ कार्षापण प्रति रात्रि था।[२] जातक कथाओं में तो इनकी फीस हजार, कार्षापण कही गयी है। वनारस की वेश्या सामा एवं सुलसा की फीस हजार (कार्षापण) प्रति रात थी। काली (वनारस की वेश्या) के यहाँ भी जाने वाले हजार लेकर जाते जिसमें से ५०० कार्षापण तो काली लेती एवं शेष ५०० वस्त्र, गन्ध, माला आदि पर खर्च होता। आगन्तुक को वेश्या के यहाँ के कपड़े पहनने होते थे रात भर रह, प्रातः काल वह पुनः अपने कपड़े पहन कर लौटता था।[३]

समाज के धनाढ्य एवं मनचले वर्ग से इनका निकट का सम्बन्ध होता था। प्रतीत होता है कि इनकी आर्थिक स्थिति कभी कभी काफी अच्छी होती थी। सुलसा गणिका की सेवा में पाँच सौ दासियाँ[४] रहा करती थी। इनकी यहाँ दरबान (=दौवारिक) नियुक्त होते थे।[५]

गणिकाएँ केवल रूप का व्यापार ही नहीं करती थी वल्कि उनके आकर्षण का एक प्रमुख कारण उनका नृत्य, गायन एवं वादन की कलाओं में पारंगत होना था। राजगृह की कुमारी सालवती गणिका के रूप में चयन के वाद थोड़े काल में ही नाँच, गीत, वाद्य में चतुर हो गयी

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१,

२. अट्ठान जातक, जातक संख्या ४२५;

३. तक्कारिय जातक, जातक संख्या ४८१;

४. सुलसा जातक, जातक संख्या ४१६;

५. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१;

आम्रपाली तो इन कलाओं में पारंगत थी।[1] संयुक्त–निकाय में कहा गया है कि जनपदकल्यानी का आगमन सुनकर वड़ी भीड़ एकत्र हो जाती है – भिक्षुओं! जब जनपदकल्याणी नाचते और गाने लगती है तब भीड और भी टूट पड़ती है।''[2]

गणिकाओं के लिए नगरशोभिनी एवं जनपदकल्याणी[3] जैसे शब्द प्रकार करते है कि समाज में इनकी स्थिति कुछ सम्मानजनक थी। आम्रपाली ने जब सुना कि भगवान् वैशाली आये है और मेरे आम्रवन में विहार कर रहे है तो वह सुन्दर यानों के समूह के साथ अपने आराम की ओर गयी। भगवान बुद्ध को भिक्षु–संघ सहित भोज के लिए आमंत्रित किया। लिच्छवियों ने भी भगवान् को आमंत्रण दिया परन्तु वो अस्वीकृत हो गया क्योंकि भगवान् ने आम्रपाली का निमन्त्रण पहले ही स्वीकार कर लिया था। उत्तम खाद्य–भोज्य से भिक्षु संघ को संतर्पित करने के बाद उसने अपना आम्रवन बुद्ध–प्रमुख भिक्षु संघ को दान कर दिया।[4] गणिकाओं को रूप–सौन्दर्य के प्रति सचेष्ट रहना पड़ता था। गर्भवती सालवती ने अपना सत्कार कम होने के डर से अपने पुत्र को कचरे के सूप के मध्य रखकर दासी से कूड़े के ऊपर रखवा दिया था। अन्ततः राजपुत्र की नजर उस नवजात शिशु पर गयी एवं अन्तःपुर में दासियों द्वारा उसका पालन–पोषण हुआ। यही बालक आगे चलकर जीवन नाम से अपने समय का सबसे प्रसिद्ध वैद्य हुआ।[5] करूधम्म जातक में एक ईमानदार नगरशोभिनी का प्रसंग है। खर्चा देकर गये व्यक्ति की तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करती है।[6] वनारस की काली–वेश्या शराब, स्त्री एवं जुए के व्यसनी भाई तुण्डिल का पतन रोकने का अथक प्रयास करती है।[7]

परन्तु सभी गणिकाएँ न (उपरोक्त विवेचन से जो स्पष्ट होता है) समृद्ध थी न ही चरित्रवान् थी। कहीं–२ वे बड़ा अमानवीय एवं संवेदनहीन कार्य भी करती दिखाई पड़ती है। सामा वेश्या वध के लिए जाते हुए चोर पर आसक्त हो गयी। उसने नगर कोतवाल को रिश्वत अपने' प्रति आसक्त प्रतिदिन दिन के ग्राहक श्रेष्ठी–पुत्र को चोर के बदले वध करवाकर चोर

---

१ विनयपिटक महावग्ग, ८/१/१

२. संयुक्त–निकाय, हि० अ० पृष्ठ ६१६,

३. वही; दीघ–निकाय, हि० अ० पृष्ठ ८८;

४. दीघ–निकाय २/३;

५. विनयपिटक, ८/१/१;

६. कुरूधम्म जातक, जातक संख्या २७६;

७. तक्कारिय जातक, जातक संख्या ४८१;

को अपना स्वामी बनाया।[1] वनारस की एक वेश्या ने रोज हजार लाने वाले श्रेष्ठी–पुत्र के एक दिन खाली हाथ आने पर अपनी दासियों को आज्ञा दी "इसे यहाँ खड़े होकर मुझे देखने मत दो। गर्दन से पकड़ निकाल कर दरवाजा बंद कर दो।[2] वनखण्ड में युवकों के साथ गयी वेश्या सबको नशे में देख आभूषण एवं सब समान लेकर चम्पत हो गयी।[3]

गणिकावृत्ति निश्चय ही समाज में साधारण रूप से हेय ही समझी जाती थी। गणिकावृत्ति को नीचकम्म एवं उनके निवास को नीचस्थान तथा गणिकाओं को बुरी सिथिति में पड़ी हुई स्त्रियाँ (दुरित्थीकुम्भदासी) कहा गया है।[4]

कदाचित् वेश्यायें सब अपने जीवन से ऊबी होती थी। जातक कथाओं में अनेक गणिकाये एक स्वामी की कामना कर जीवन व्यतीत करने की इच्छा करते दिखाई पडती है।[5]

राजकर्मचारी -

समाज का एक वर्ग राजकीय सेवाओं के माध्यम से जीविकोपार्जन करता था। दीघ–निकाय के लक्खण सुत्त में विभिन्न राजकीय कर्मचारियों का उल्लेख राजा के परिवार के रूप में हुआ है– "ब्राह्मण, गहपति, नैगम (= नागरिक सभासद), जानपद (= दीहाती सभासद), कोषाध्यक्ष, मन्त्री, शरीररक्षक, द्वारपाल, सभासद् राजा और अधीनस्थ कुमार – यह उनका (राजा) का बहुत बड़ा परिवार होता है।" राज्य का सर्वोच्च पद 'राजा' का होता था, जो प्रायः पैतृक रूप से राज्य का उत्तराधिकारी होता था।[6] परन्तु उसे धर्मानुसार शासन करना होता था। "जिस समय राजा अधार्मिक हो जाते हैं, राजपुरुष भी उस समय अधार्मिक हो जाते है।" तेसकुण जातक में धार्मिक राजा के गुणों का विवेचन किया गया है।[7] विभिन्न कार्यों में राजा

---

१. कणवेर जातक, जातक संख्या ३१८;

२. अट्ठान जातक, जातक संख्या ४२५;

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१३;

४. प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृष्ठ २०५;

५ जातक संख्या ३१८ एवं ४१६;

६. अट्ठान जातक, जातक सं० ४२५; जातक संख्या २७६

७. तेसकुण जातक, जातक संख्या ५२१;

को उचित परामर्श देने के लिए योग्य अमात्य 'पुरोहित' की नियुक्ति की जाती थी। पुरोहित को राजा का अर्थधर्मानुशासक कहा गया है। गोविन्द नामक ब्राह्मण पुरोहित के मृत्यु के बाद जब उसके योग्य तरुण पुत्र जोतिपाल से राजा दिशांपति बोला – "आप जोतिपाल मुझे अनुशासन करें (= सभी कानोंमें विचार पूर्वक सलाह दें)। आप जोतिपाल अनुशासन करने से मत हिचकें। आपको आपके पिता के स्थान पर नियुक्त करता हूँ।

गोविन्द के आसन पर आपको अभिषिक्त करता हूँ।"[१] (इस पद पर प्रायः ब्राह्मणों की नियुक्ति होती थी। राजा के साथ उपराजा का भी उल्लेख मिलता है जो प्रायः राजा का बडा पुत्र[२] या छोटा भाई[३] होता था। अन्य उच्च राजकीय पदाधिकारियों में सेनापति,[४] खजानची (कोषाध्यक्ष),[५] न्यायाधीश (व्यावहारिक महामात्य)[६], श्रेष्ठि,[७] एवं अनेक कार्यों के सम्पादन करने वाले अमात्य महत्वपूर्ण थे। साहित्य में अनेक प्रकार के आमत्यो राजग्रहण करने वाले आमात्य, द्रोणमापक महामात्य[८], सार्वर्थिक महामात्य,[१०] गणक महामात्य, द्वारपाल आमात्य[११] आदि का उल्लेख आया है। राज्य की ओर से युद्ध करने वाले विभिन्न पदाधिकारियों की एक बड़ी संख्या थी जैसे हस्ति–आरोहण (=हस्ति सैनिक), अश्वारोहण (=हस्ति सैनिक) धनुर्ग्राहि (=धनुर्धर), चेलक (=यद्धध्वज धारण), चलक (=व्यूह–रचनाकार), पिण्डदायक (=भोजन सामग्री पहुँचाने

---

१. दीघ–निकाय, महागोविन्द–सुत्त, २/६

२. खण्डहाल जातक जातक संख्या ५४२;

३. कुरुधम्म जातक, जातक संख्या २७६; जातक संख्या ५३६;

४. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६;

५. जातक संख्या ५२१;

६. विनयपिटक महावग्ग, १/३/४;
महासुपिन जातक, जातक संख्या ७७;

७. कुरुधम्म जातक; जातक संख्या २७६;
जातक संख्या;

८. कुरुधम्म जातक

९. विनयपिटक, महावग्ग, १/३/४

१०. वही

११. कुरुधम्म जातक, जातक संख्या २७६;

वाले), उग्र राजपुत्र (=वीर राजपुत्र), महानाग (=हाथी से युद्ध करनेवाले) शूर, चर्म (=ढाल) योधी।[1] राजकीय सेवाओं से ही सम्बद्ध सारथी,[2] नगर—कोतवाली[3], आरामिक, कर्मकर (मजूदरी पर सेवा के विभिन्न कार्य करने वाले), द्वारपाल[4] संदेशवाहक[5], माण्डागारिक आदि की सूची बनयी जा सकती है।

दास एवं दासी

दासता वृत्ति द्वारा भी समाज का एक वर्ग अपनी जीविका चलाता था। दास—दासी अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए उनकी विभिन्न प्रकार से सेवा करते थे। विधुर जातक में चार प्रकार के दासों की गणना की गई है (१) दासी के पेट से जन्म ग्रहण करने से कुछ लोग 'दास' होते है। (२) धन के खरीदे जाकर भी 'दास' होते है (३) कुछ लोग स्वेच्छया 'दास' हो जाते है। (४) भय से मजदूर होकर भी लोग 'दास' हो जाते है।[6] दास सामाजिक, वैधानिक एवं आर्थिक दृष्टि से हेय स्थिति में थे। शाक्य राजकुमार एवं नागमुण्डा नामक दासी से उत्पन्न वासमखत्तिया का विवाह शाक्यो ने धोखाधड़ी से कौशल नरेश के साथ करवा दिया। इसी दासी

---

१. दीघ—निकाय, सामञ्जफल सुत्त, १/२

२ मूगपक्ख जातक

३. कणवेर जातक, जातक संख्या, ३१८

४. कुरुधम्म जातक, जातक संख्या, २७६; दी०नि०, ३/७

५. दस ब्राह्मण जातक

६. विधुर जातक, जातक संख्या ५४५;

आमाय दासापि भवन्ति हेके
धनेन कीतापि भवन्ति दासा,
सयम्पि हेके उपयन्ति दासा
भयापणुन्नापि भवन्ति दासा।।

वासमात्तिया की कोख से उत्पन्न कोशल नरेश का पुत्र 'विडॅडम' अपने नाना के यहां जाकर जिस तख्त पर बैठा था, उसे वहां कि दासी अपवित्र मान कर दूध–पानी से धोकर साफ करती है।[१]

संभ्रान्त व्यक्तियों के यहां बड़ी संख्या में दास–दासी रहते थे।[२] दास–दासियों से सफाई, बच्चो का पालन–पोषण, खेत–खलिहान के कार्य, पानी लाने का कार्य, खाना बनाना आदि अनेकानेक प्रकार की सेवायें ली जाती थी। पूर्णादासी अपने लिए उखली, मूसल एवं सूप का वर मांगती है।[३] काक जातक में मजदूरी पर धान कूटने वाली दासी का उल्लेख आता है।[४] दास–दासियां नदी के नट आदि पर पानी लेने जाते थीं।[५] राजगृह का श्रेष्ठी संघ सहित भगवान् बुद्ध को भोजन का निमंत्रण देकर अपने दास एवं कमकरों को आज्ञा देता है कि समय पर खिचड़ी पकाओ, भात पकाओ, सूप (तेमन) तैयार करो"।[६] कटाहक जातक में दासी पुत्र का श्रेष्ठि पुत्र के विद्याध्यन काल में सेवकाई कार्य करने का प्रसंग आया है।[७] जीवक कौमार–नृत्य का पालन–पोषण अन्तःपुर की दासियों द्वारा हुआ है।[८] एक गृह–दासी ने अतिथियों का वैसा ही आदर सम्मान किया जैसे एक मात्र अपने पुत्र का करती है।[९]

दासों से निम्नगुणों उपेक्षा की जाती थी। (१) (मालिक से) पहिले (बिस्तर से) उठ जाने वाले होते हैं (२) पीछे सोने वाले होते हैं (३) दिये को (ही) लेने वाले होते है (४) कामों को अच्छी तरह करने वाले होते हैं (५) कीर्ति प्रशंसा फैलाने वाले होते हैं।[१०]

---

१ भद्दसाल जातक, जातक सख्या ४६५

२. विसाह जातक, जातक संख्या, ३४०

३. नानच्छन्द जातक, जातक संख्या, २८१

४. काक जातक, जातक संख्या, १४०

५. कुणाल जातक, जातक संख्या, ५३६

६. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/३/१

७. कटाहक जातक, जातक संख्या १२५

८. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१

६. निमि जातक, जातक संख्या, ५४१

१०. दीघ–निकाय ३/८

कभी–कभी स्वामी द्वारा अपने दासों के साथ कठोर व्यवहार करने का उल्लेख आता है। एक दासी पुत्र सेठ के यहां अपनी योग्यतानुसार भण्डारी का काम देखने लगा परन्तु उसे इस बात का शक था कि ये सेठ 'मुझसे हमेशा भण्डारी का काम नहीं लेगें। दोष देखकर ताड़ना देगें, बांध कर दाग देंगे, दास बनाकर काम लेंगे।'[१] श्रावस्ती में कोसलराज प्रसेनजित के यहाँ महायज्ञ होने वाला था। दास, नौकर और मजदूर लाठी एवं भय से धमकाये गये एवं आंसू गिराकर रोते हुए उनसे काम लिया जा रहा था।[२] महावेसन्तर जातक में अवयस्क दास एवं दासी के साथ एक ब्राह्मण क्रूर व्यवहार करता है।[३] महावग्ग में उल्लेख आया है कि एक श्रेष्ठी भार्या, चिकित्सा हेतु नाक में डाले गये घी को जो मुंह से बाहर निकलता है दास–कर्मकरों के उपयोग (पैर में मलने) हेतु रख देती है।[४]

दास–दासियों को दान तथा उपहार में दिया जाता था एवं उनका क्रय–विक्रय भी होता था। जुण्ह कुमार ने एक ब्राह्मण को सात सौ दासियाँ दान में दी थी।[५] साकेत के श्रेष्ठीभार्या का ठीक किये जाने पर उसने प्रसन्न होकर जीवक को एक दास एवं दासी दिया था।[६]

दास दासी के कभी कभी अपने स्वामी के यहां प्रेम–संबंध एवं विवाह हो जाया करते थे। राजगृह के श्रेष्ठी के पुत्री का अपने दास के साथ प्रेम संबंध था। परन्तु श्रेष्ठी पुत्री माता पिता से भयभीत होकर दास को अपना स्वामी मान घर से भाग गयी। कालान्तर में दो पुत्रों की माता होने पर श्रेष्ठी पुत्री वन पिता के घर के द्वार खड़ी थी तो श्रेष्ठी ने कहला भेजा "उन

---

१. कटाहक जातक, जातक संख्या १२५

२. संयुत्त–निकाय, **यपुंजसुत्त**, हि०अ०, पृ० ७२; दीघ–निकाय, १/२

३. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या, ५४७

४. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१

५. जुण्ह कुमार जातक, जातक संख्या, ४५६

६. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१

दोनों ने हमारा बडा अपराध किया। इसलिए वह हमारी आंखों के सामने खड़े नहीं हो सकते। धन लेकर वे जाय एवं बच्चों को छोड़ जाये।"[1] परन्तु इन सम्बन्धों को प्रायः समाज में अच्छा नहीं माना जाता था।[2]

दास–दासियों के प्रति उदार व्यवहार भी कभी–कभी किया जाता था। एक जातक कथा में वर के रूप में इच्छा की गयी है 'वह द्वेष जिसके पैदा होने से दासों का नाश होता है मुझमें न रहे।'[3] अंगुत्तर निकाय में मनुष्यों (दास दासियों) के व्यापार को अनुचित कहा गया है। महात्मा बुद्ध ने उस यज्ञ की निन्दा की जिसमें जीव–हिंसा हुई तथा दासो–नौकरों ने दण्ड तर्जित, भय–तर्जित हो, अश्रुमुख होकर, रोते हुए सेवा की।[4] श्रमण गौतम दास–दासी के ग्रहण से विरत थे ये उनका आरम्भिक शील था। भगवान् शृगाल (सिगाल) गृहपति के पुत्र को उपदेश देते हुए कहते हैं[3]– "गृहपति–पुत्र! पांच प्रकार से आर्थिक (मालिक) को दास–कर्मकार रूपी निचली दिशा का प्रत्युपस्थान करना चाहिये (१) उनकी शक्ति के अनुसार कर्मान्त (काम) देने से। (२) भोजन–वेतन (भत्त–वेतन) प्रदान से (३) रोगी–सुश्रूषा से (४) उत्तम रसों (वाले पदार्थों) को प्रदान करने से (५) समय पर छुट्टी (वोसग्ग) देने से।"[5] निश्चत ही भगवान् बुद्ध का दासों के प्रति जो उदार उपदेश थे उनका कुछ न कुछ प्रभाव समाज पर आवश्य पड़ा होगा।

दासों को उनकी दारुता के बन्धन से मुक्त किये जाने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। एक जातक कथा के अनुसार सपरिवार प्रव्रजित होने वाले ब्राह्मण ने अपने दासों को मुक्त कर दिया था।[6] स्वामी को पर्याप्त धन देकर भी दासता से मुक्त हुआ जा सकता है।[7] प्रव्रजित

---

१. चुल्लसेट्ठि जातक, जातक संख्या, ४

२. भद्दसाल जातक जातक संख्या, ४८

३ जातक संख्या ४८०

४. दीघ–निकाय १/३

५. दीघ–निकाय ३/८

६. सोणनन्द जातक, जातक संख्या, ५३२

७. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

राष्ट्रपाल जब भिक्षा मांगते हुए अपने पूर्व घर पर जा पहुंचे तो इसकी सूचना घर की दासी ने राष्ट्रपाल की माता को दी। इस पर अत्यन्त प्रसन्न होकर राष्ट्रपाल की माता ने उस दासी को दासता से मुक्त कर दिया।[1]

वैद्य

चिकित्सा–कार्य द्वारा जीविकोपार्जन करना एक सम्मानजनक पेशा था। बुद्धकालीन कुछ चिकित्सकों ने बडी ख्याति एवं सम्मान अर्जित की। राजगृह के जीवक कौमारभृत्य ने तक्षशिला के सुप्रसिद्ध चिकित्सक से शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा समाप्त कर तक्षशिला से वापस राजगृह लौटते समय, साकेत के श्रेष्ठी–भार्या के सात वर्ष पुराने शिर–दर्द, जिसे दिगंत–प्रसिद्ध वैद्य भी ठीक नहीं कर सके थे, उपचार किया। इस प्रथम चिकित्सा कार्य के बदले उसे सोलह हजार, दास, दासी एवं अश्व–रथ प्राप्त हुआ। वह मगध–नरेश बिम्बसार की सेवा में नियुक्त था। राजा के रनिवास एवं बुद्ध–प्रमुख भिक्षु संघ की परिचर्य्या उसका प्रथम कर्तव्य था। जीवक की ख्याति सुदूर देशों में फैल चुकी थी। उज्जैन–नरेश प्रद्योत ने पांडु–रोग से पीड़ित हो, अपना दूध मगध नरेश बिम्बसार के पास भेजकर उपचारार्थ जीविक की मांग की थी।[2]

---

१. मज्झिम निकाय, सुत्तन्त संख्या, ८२; हि०अ०, पृ० ३३२

तेन खो पन समयेन साकेते सेट्ठिभरियाय तवस्सि सीसाबाधो होर्ति वहू महनता दिसापामोक्खा वेज्जा आगन्त्वा नासक्खिसु अरोगं काते। . . . . . अथ खो जीवको कोमारमच्चो सेट्ठिभरियाय सत्त्वस्सिकं सीसावाधं एकेनेव तत्थुकम्मेन अपकड्ठि। . . . . अथ खो जीवको कोमारमच्चो तानि सोलससहस्सानि आदाय दासं च दासिं च अस्सरथं च येन राजगहं तेन पक्कानि। . . . उपसकङ्कनित्वा अभय राजकुमारं एतदवोच– "इदंमे, देव, पक्मकम्मं सोलससहस्सान्ति दासो च दासी च अस्सरथो व। तेन खो पन समयेन उज्जेनियं रञ्ओ पज्जोतस्सं पण्डुरोगावाधो होति। . . . . अथ खो राजा ज्जातो रञ्जो मागधस्य सेनियस्स बिम्बसास्स सन्तिके इतं पाहेसि– मच्हं खो तादिसो आबाधो, साधु देवो जीवनं वेज्जं आणापेतुं, सो में तिकिच्छिस्सती ति।

२. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१

वैद्य शल्य क्रिया करते थे। भगवान् बुद्ध के पैर पत्थर–खण्ड से आहत होने पर जीवक ने तथागत के पांव की शल्य–चिकित्सा कर, खराब खून निकाल, सड़ा हुआ मांस काट दवाई लगा, उसे निरोग किया।[1] एक भिक्षु को भगंदर रोग था। आकाश–गोत्र वैद्य ने उसका शस्त्र–कर्म (चीडफाड़) किया।[2] वाल रोग विशेषज्ञों को दारक तिकिच्छका कहा जाता था। मज्झिम–निकाय के सुनक्खत्तक सुत्तन्त में[3] आपरेशन एवं उसके बाद घाव की हिफाजत की प्रक्रिया का बडे विस्तार से उल्लेख आया है। "जैसे, सुनक्खत! कोई पुरुष गाढे विष के बुझे शल्य से विधा हो। उसके यार–दोस्त भाई–बन्द शल्यकर्ता भिषक् को ला उपस्थित करें। वह शल्यकर्ता भिषक् शस्त्र के घाव के मुख को चारों ओर से काट दे, फिर ऐषणी (औजार) से खोजकर शल्य को निकाल दें, फिर निःशेष जान किन्तु स–शेष विष को दूर करें। (फिर) वह (रोगी को) ऐसा कहे– हे पुरुष! तेरा शल्य निकल गया, विष–दोष निःशेषकरके हटा दिया गया, अब मुझे खतरा नहीं (किन्तु) (१) तू पथ्य (रुप्पाय) भोजन को ही खानाद्ध अ–पथ्य भोजन के खाने से, कहीं तेरा घाव बहने न लगे। (२) समय–समय पर घाव को धोना (३) समय–समय पर व्रण के मुख पर लेप करना; मसय–समय पर व्रण मुख न धोने से, समय–समय पर व्रण मुख के न लेप करने से, कहीं पीब–लोहू तेरे व्रण मुख में न भर जाये। (४) हवा–धूप में चलना–फिरना मत हवा धूप में चलने–फिरने से कहीं मैल–टूंड तेरे व्रण–मुख (घाव) में न चले जायें। हे पुरुष! (५) घाव की हिफाजत करना,

---

१. चुल्लहसं जातक संख्या, ५३३

२. विनयपिटक, महावग्ग, हि०अनु०, पृ० २३०

तेन खो पन समयेन अञ्ञतरस्स भिक्खुनो भगन्ढलावाधो होति। आकासगोतो वेष्णो सत्थकम्मं करोति।

३. मज्झिम–निकाय, सुनक्खत सुत्तन्त, ३/१/५, हि०अ०, पृ० ४४७

चिकित्सा जड–मूल से भरी मुंह बन्द थैलियॉ अपने पास रखते थे। रोगी को वे पोटलियो में बांध कर दवा देते थे।[1] चिकित्सक की फीस का उल्लेख स्थान–स्थान पर आया है।[2] एक स्थान पर तरुण चिकित्सक राजा से कहता है "मुझे वैद्य की फीस की आवश्यकता नहीं । मैं चिकित्सा करूंगा। आप केवल औषध का मूल्य दे दें।[3] कभी–कभी चिकित्सक चिकित्सा के नाम पर ठगी भी करते थे। इसी कारण ब्रह्मजाल सुत्त में ऐसी विद्या को तिरिच्छानविज्जा अर्थात् गलत् विद्या की संज्ञा दी गयी है।[4]

नहापित (नाई)

लोगों की हजामत एवं केश बनाने का कार्य नाई करता था। **गंगमाल जातक** में राजा के गंगमाल नामक नाई का उल्लेख है जो राजा की हजामत बनाने के लिए छुरे एवं चिमटी का प्रयोग करता था।[5] कभी–कभी नाई राजा के व्यक्तिगत सेवक के रूप में भी कार्य करते थे। वैशाली नरेश का नाई राजपरिवार की हजामत बनाने, उसके केशों को संवारने के साथ उनके मनोरंजन के लिए शतरंज बिछाता एवं उनके और भी सभी कार्य करता।[6] प्रतीत होता है नाई अपने शागिर्द के साथ, धनी–मानी व्यक्तियों को स्नान भी कराते थे।[7] आतुमा में भूतपूर्व हजाम (नहापित) भिक्षु के दो पुत्र थे जो अपनी पंडिताई और कर्म में सुन्दर, प्रतिभाशाली, दक्ष, शिल्प में परिशुद्ध थे। जब भगवान आतुमा आये तो भिक्षु अपने पुत्रों से भगवान को भोजन के लिए आमंत्रित करने को कहा। विनयपिटक के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि नाई झोली में

---

१. दस ब्राह्मण जातक, संख्या ४६५

२. अलीनचित्त जातक सख्या, १५५

३. काम जातक संख्या, ४६७

४. दीघ–निकाय, सारनाथ, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५१

५. गङ्गमाल जातक संख्या, ४२१

६. सिगाल जातक संख्या, १५२

७. दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० २६

हजामत का समान लिये घर–घर में फेरा लगाते थे। नाई को अपने कार्य के बदले लोग तेल, नमक, तंडुल आदि खाद्य पदार्थ देते थे।[1] विनयपिटक में उपालि हजाम का उल्लेख है जो चिरकाल से भगवान का सेवक रहा जिसे भगवान ने पहले प्रव्रजित कराया पीछे शाक्य कुमारों को।[2] आलारिक (बावर्ची) सेठ, राजा एवं धनसमपन्न व्यक्तियों के यहां भोजन बनाने के लिए आलारिक (बावर्ची) रखे जाते थे। ये अपने स्वामी का चित्त प्रसन्न करके नाना ईनाम प्राप्त करते थे। संयुत्त–निकाय में कहा गया है कि पण्डित होशियार रसोइया राजा या राजमंत्री को नाना प्रकार के सूप परोस कर कपडा भी पाता है, तलब और इनाम भी पाता है।[3]

रसोइया भोजन बनाने के साथ उससे सम्बन्धित अन्य कार्यो को भी निबटाता था। कुसराजा मद्राजा की पुत्री प्रभावति के प्रेम में वशीभूत हो प्रधान रसोइये के शिष्य के रूप में उसके यहां रहता था। कुसराजा प्रातः काल लकड़ी चीरता, काछ को अच्छी तरह बांधे, झुककर बरतन धोता, वैहगी से पानी लाता एवं भोजन तैयार करता।[4]

पाषाण शिल्पी

भवन निर्माण से सम्बन्धित पत्थर का काम करने वालों को पाषाण कोत्तका कहते थे। इसी तरह ईटों का काम करने वाले इट्ढवड्ढक कहलाते थे। ये बड़े–बड़े स्तम्भों का निर्माण करते थे।[5] मज्झिमनिकाय में पत्थर का काम करने वाले इन कलाकारों को पंचकांगथपति (स्थपति या थवई) कहा गया है।[6] अठ्ठकथा के अनुसार वसूला, कुलहाड़ी, रुखानी, हथौड़ा और काले सूत की नली रखने के कारण इन्हे पंचकांग कहा जाता था। बब्बु जातक में उल्लेख आया है कि बोधिसत्व एक बार पत्थर–कट कुल में पैदा हुए। बड़े होने पर वह अपने शिल्प में

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६, ११, हिन्दी अनु०, पृ० २५४
अथ खो सो वुड्ढपब्बजितो ते दारके एतदवोच– "भगवा किर, ताता, आतुमं आगच्छति महता भिक्खुसङ्गेन सिद्धिं अड्तेलसेति भिक्खुसतेहि। गच्छथ तुम्हे, ताता खुरमण्डं आदाय नालियावापकेन अनुधकरकं अनुधरकं आहिण्डथ, लोण। पि, तेलं पि, तण्डुल पि, खादनीयं पि संहरथ, भगवतो आगतस्स यागुपानं करिस्सामा ति।"

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ७/१/२, हि०अ०, पृ० ४७६

३. संयुत्त निकाय, ५/४५/१/८

४. कुस जातक संख्या, ५३१

५. जातक फॉसबाफल, जि० १, पृ० ४७८

६. मज्झिम–निकाय, नालंदा, पालि प्रकाशन, द्वितीय, ६/१/१ पञ्चव्ङ्गोथपति

पारगत हो गये। पहले जहाँ गाँव था पर अब वह उजड़ गया था, वहाँ जाकर पत्थर उखाड़ कर उन्हें तराशते थे।[1] राजगृह का श्रेष्ठी जोतिक पत्थर निर्मित महल में रहता था, जिसकी भव्यता देखकर कुमार अजातशत्रु ने ईर्ष्या का अनुभव किया।

नलकार

बांस को टोकरी, चटाई आदि बनाने वालों की संज्ञा नलकार थी। श्रावस्ती के समीप एक नलकार ग्राम था।[2] एक जातक कथा में प्रपात–युक्त पर्वत की छायों दो पिता–पुत्र नलकारों के चटाई बुनने का उल्लेख है।[3]

दर्जी

दर्जी लोगों के वस्त्र सिलने का कार्य करते थे। महाउम्मग्ग जातक में उल्लेख आया है कि बोधिसत्व ने सारे गांव वालों के कपड़े सिलकर एक दिन में ही एक हजार का अर्जन किया।[4] गांव की अपेक्षा नगर की दर्जी अधिक फैशनेबुल वस्त्र सिलते थे। कटाहक नामक दासी–पुत्र जो एक सेठ को धोखा देकर, उसका दामाद बन गया था गांव के दर्जियों के सिले वस्त्र को नापसन्द करता था।[5]

मालाकार

माला तत्कालीन प्रसाधन की एक आवश्यक वस्तु थी। अलंकरण के प्रसंगों में फूल–माला का उल्लेख सहज ही दृष्टिगत होता था।[6] इसके अतिरिक्त पूजा–अर्चना में भी मालाओं का प्रयोग किया जाता था।[7] माला बनाने वालों की संज्ञा मालाकार थी। बुद्धकालीन भारत में

---

१. बब्बु जातक संख्या, १३७
२. मज्झिम निकाय, २/५/१, हि०अ०, पृ० ४१६
३. गामणीचण्ड जातक संख्या, २५७
४. महाउम्मग्ग जातक संख्या, ५४६
५. कटाहक जातक संख्या, १२५
६. अलंकरण के लिए
७. जातक संख्या, ४७६

मालाकारी एक विकसित शिल्प थी। विनयपिटक के चुल्लवग्ग में मालाओं के विभिन्न रूपों का उल्लेख हैं– इकहरी बॅटी माला, दोनों और से बॅटी माला, मंजरिका– (मंजरी), विधूतिका, वटंसक (अवतंसक), आवेल (आपीड) एवं उस्च्छद।[1]

जीवकोपार्जन के अन्य साधन

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में उपरोक्त शिल्पों–व्यवसायों के अतिरिक्त जीवकोपार्जन के अन्य साधनो का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। अंगविद्या, उत्पादविद्या, स्वप्नविद्या, लक्षणविद्या, मूषिक–विष विद्या, अग्नि–हवन, दर्वी–होम, तुष–होम, तण्डुल–होम, घृतहोम, तैल–होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिरहोम, वास्तुविद्या, क्षेत्रविद्या, शिव विद्या, भूतविद्या, भूरि विद्या, सर्पविद्या, विष विद्या, विच्छू के झाड़–फूंक की विद्या, मूषिक विद्या, पक्षि विद्या, शर परित्राण (मन्त्र जाप जिससे लडाई में वाण शरीर पर न गिरे) एवं मृगचक्र।[2] इन विद्याओं में या तो विष को दूर करने के झाड़–फूंक के उपाय, मंत्र–जाप तथा अनुमान का प्रयोग अथवा उसके सम्बन्ध में लक्षणों आदि से जानकारी कराने में जो चपलता, चतुराई, तिलस्म और जादूगरी के पुट दिये थे, इसलिए इन्हें हीन विद्या की संज्ञा दी गयी है।[3]

दूसरों का मनोरंजन कर जीविकोपार्जन करने वालो का भी उल्लेख मिलता है। वाराणसी के एक गांव में पाटल नट रहता था वह अपनी भार्या को ले शहर जा नाच–गा, उत्सव मना धनार्जन करता था।[4] संयुत्त निकाय में तालपुत्र नटग्रामणी का उल्लेख मिलता है।[5]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १/३/१, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३४६

२. दीघ निकाय, १/१/३

अङ्ग निमित्त उप्पातं सुपिनं लक्खणं भूसिकच्छिन्नं अग्गिहोमं दब्बिहोनं थुसहोनं कणहोनं तण्डुलहोन सप्पिहोम तेलहोमं मुखहोनं लाहितहोनं अङ्गविष्जा वत्थुविज्जा खेत्तविज्जा सिवविज्जा भूतविज्जा भूरिविज्जा अहिविज्जा विसविज्जा विच्छिकविज्जा मूसिकविज्जा सकुणज्जि वायसविज्जा पक्कज्सानं सरपस्तिाणं मिगचक्कं।

३. प्राचीन पूर्वोत्तर भार, प्रभा त्रिपाठी, पृ० २८५

४. पदकुसल माणव जातक संख्या, ४३२

५. संयुत्तनिकाय, ४/४०/१/२

गन्धर्व वीणा आदि वाद्यो को वजाकर लोगों का मनोविनोद करते थे। गुत्तिल—गन्धर्व सुप्रसिद्ध वीणा वादक था।[1] मल्ल—युद्ध (पहलवान—युद्ध) देखने में लोग बडी रुचि दिखाते थे।[2] स्त्रियॉ भी पहलवान (मल्ली) होती थी।[3]

दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में इन दर्शनों (खेल—तमाशों) की एक सूची मिलती है।

१. नृत्य
२. गीत
३. वाजा
४. नाटक
५. लीला
६. ताली
७. ताल देना
८. घडे पर तबला बजाना
६. गीत—मण्डली
१०. लोहे की गोली का खेल
११. बॉस का खेल
१२. धोपन
(उस समय का एक खेल)
१३. हस्ति युद्ध
१४. अश्वयुद्ध
१५. महिष युद्ध
१६. वृषभ युद्ध
१७. बकरों का युद्ध
१८. भेड़ों का युद्ध
१६. मुर्गों का लड़ाना
२०. बत्तक का लडाना
२१. लाठी का खेल
२२. मुष्टि युद्ध
२३. कुश्ती
२४. मारपीट का खेल
२५. सेना
२६. लड़ाई का चालें

परन्तु इन कलाओं का बहुत सम्मान नहीं दिया जाता था। श्रमण एवं ब्राह्मण को इससे दूर रहने के लिए कहा गया था।

---

१ गुत्तिल जातक संख्या, २४३

२. घ्रत जातक संख्या, ४५४

३. विनयपिटक, चुललवग्ग, १०/४/१२

४. दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत्त, १/१/२
जच्चं गीतं वदितं पेक्खं अक्खानं पाणिस्सरं वेतालं कुम्भथूणं सोमनकं चण्डालं वंसं धोवन हत्थियुद्धं अस्सयुद्धं महिसयुद्धं उसमयुद्धं अजयुद्धं मेण्डयुद्धं कुक्कुटयुद्धं वट्टकयुद्धं दण्डयुद्धं मुट्टियुद्धं निब्बुद्धं उय्योधिकं वलग्गं सेनाब्यूहं अनीकदस्सनं इति वा इति, एवरूपा विसूकदस्सन पटिविरतो समणो गोतको ति।

अध्याय-५

व्यापार एवं वाणिज्य

व्यापार एवं वाणिज्य

बुद्धकालीन भारत को व्यापारिक दृष्टि से नयी दिशाओं में प्रगति करते हुए हम पाते हैं। इस युग में न केवल अन्तर्देशीय व्यापार उन्नत हुआ, बल्कि विदेशों से भी प्रगाढ़ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए। देश के बडे–बड़े व्यापारियों (सेठों) के पास अपार धन–सम्पदा थी। श्रावस्ती के प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक ने जेत राजकुमार का उद्यान, गाड़ियों पर सोने की मोहर ढुलवाकर, पूरी भूमि पर स्वर्ण–मुहरे बिछवाकर खरीदा था।[1] साकेत गे सेठ धनंजय ने अंगुत्तर–निकाय की अट्ठकथा के अनुसार, अपनी पुत्री विशाखा के लिए ६ करोड़ मूल्य से महालता नामक आभूषण बनवाया था और उसके स्नान–चूर्ण के मूल्य के लिए ५४०० गाड़ी धन दिया था। राज्य में इन धनाढ्य सेठों का होना प्रतिष्ठापूर्ण माना जाता था। कोशल नरेश प्रसेनजित् के राज्य में कोई बड़ा सेठ नहीं था इसिलए उसकी प्रार्थना पर मगध नरेश बिम्बसार ने अपने राज्य के प्रसिद्ध सेठ धनंजय को कोसल में बसने के लिए भेज दिया, जिसने साकेत में जाकर अपना व्यवसाय आरम्भ किया।[2]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६/३/१;

२. डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५३४;

व्यापार मे लाभ की पूरी सम्भावना थी। सुत्त–निपात में कहा गया है जैसे प्यासा मनुष्य शीतल जल की इच्छा करता है, वैसे ही व्यापारी महालाभ की[1] व्यापार एवं कृषि–कर्म की तुलना करते हुए, व्यापार में कृषि की अपेक्षा सनस्यायें कम बतायी गयी हैं और कहा गया है कि इसमें सफल होने पर लाभ भी अधिक होता है।[2]

चुल्लसेट्ठि जातक में एक रोचक कथा मिलती है, जिसमें एक कुलपुत्र ने गली के मरे चूहे से अपना व्यापार आरम्भ करके चार माह में ही लाखों रुपये अर्जित किये। भगवान् बुद्ध के शब्दों में "(चतुर) मेधावी (पुरुष) थोडी सी भी आग को फूँक मारकर बढ़ा लेने की तरह, थोडे से भी मूलधन से अपने को उन्नत कर लेता है"[3] अंगुत्तर निकाय दुकानदान के तीन प्रमुख गुणों का उल्लेख करता है। (१) दृष्टिसम्पन्न व्यापारी वस्तुओं के खरीदने के ढंग से सम्बन्धित गुण है, (२) क्षमतासम्पन्न उसे कहते थे जो क्रय–विक्रय के योग्य हो जाते थे (३) एवं दुकानदान को दृढ विश्वासी होना चाहिए।"[4]

---

१. तसितो वुदकं सीतं, महालाभं व वाणिजो
छायं धमम्माभितत्तो व तुरिता पब्बतमारुहुं
सुत्त–निपात, पारायणवग्गो, वत्थुगाथा, ५/१

२. कसि यो माणव, कमट्ठान महट्ठ महाकिच्च महाधिकरणं महासमारम्भं सम्पज्जमानं महप्फल होति।
वणिज्जा मेव यो, माणव, कमट्ठानं अप्पट्ठ अप्प किच्चं अप्पाधिकरणं अप्पसमारम्भ महप्फलं होति।
– म० नि० ४६/१/२

३ अप्पकेनापि मेधावी पाभतेन विचक्खणो,
समुट्ठापेति अत्तान अणुं अग्गिं व सन्धमं।
चुल्लसेट्ठि जातक, जातक संख्या ४;

४. अंगुत्तर –निकाय, तृतीय ३/२/१०

व्यापार के क्षेत्र में साझेदारी भी दिखाई पडती है। कूट व्यापारी और पण्डित व्यापारी, दो श्रावस्ती निवासी व्यापारी साझा व्यापार करके, पूर्व से पश्चिम घूमते हुए बहुत मुनाफा कमा कर लौटे।[1] महावणिज जातक मे कहा गया है कि नाना राष्ट्रों से आये हुए व्यापारियो ने 'समिति' बनाई और एक को प्रधान बना धन कमाने के लिए चल पड़े।[2] सेरिव देश के दो व्यापारी नील वाहिनी नदी पार करके अन्धपुर नामक नगर में गये। जहाँ उन्होंने नगर की गलियों को आपस मे बॉट लिया। बोधिसत्व अपने हिस्से की गलियों में सौदा बेचते; दूसरा बनिया अपने हिस्से की गलियों में।[3]

परन्तु व्यापारियों की इस साझेदारी के आधार का कुछ स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालिक लाभ एवं सुविधा के लिए व्यापारी आपस में समझौता कर लेते थे।

ऋण ने भी व्यापार को प्रोत्साहित किया। जो व्यक्ति ऋण लेकर व्यापार करता था वह सफलता की अवस्था में ऋण को लौटाने के बाद भी अत्यधिक धन कमा लेता था जिससे

---

१. कूटवाणिज जातक, संख्या २१८;

२. वाणिजा समितिं कत्वा नाना रट्ठातो आगता
धनहाराय पक्कमिसु एक कत्वान गामणि।।
महावाणिज जातक, जातक संख्या ४६३;

३. अतीते इतो पञ्चमे कप्पे बोधिसत्तो सेखिरट्ठे सेरिवो नाम कच्छपुटवाणिजो अहोसि/ सो सेरिवा नाम एकेन लोलकच्छपुटवाणिजेन सद्धिं वोहारत्थाय गच्छन्तो नीलवाहिनिं नाम नींदउत्तरित्वा अन्धपुरं नाम नगरं पविसन्तो नगरवीथियो भाजेत्वा अत्तनो पत्तवीथिया भण्डं विक्किणन्तो चरि। इतरोपि अत्तनो पत्तवीथि गणिह/– सेरिवाणिज जातक, संख्या ३;

उसके परिवार का पालन—पोषण सुविधापूर्वक हो जाता था।[1] सम्पन्न श्रेष्ठी छोटे व्यापारियों को ऋण देते थे। श्रावस्ती के महासेट्ठी अनाथपिण्डिक ने बहुत से व्यापारियों को, हाथ की लिखित लेकर, अट्ठारह करोड धन ऋण दिया था। महासेट्ठी व्यापारियों से वह धन नही मॉगता था।[2] सूद पर पैसे देना, व्यापार में धन लगाना समाज में प्रचलित था, परन्तु भिक्षुणियों के लिए इन सब कार्यो को करना निषिद्ध था।[3]

बढइयों ने भी तुम्हारे लिए चारपाई बनायेंगे, तुम्हारे लिए पीढ़ा बनायेंगे, तुम्हारे लिए घर बनायेंगे, कह लोगो से बहुत ऋण लिया था। किन्तु कुछ भी करके नहीं दे सके। कर्जख्वाहों से पीड़ित होकर बढइयों ने अपना ग्राम छोडकर अन्यत्र जाने का निश्चय किया।[4]

व्यापारियों को राजकीय सहायता के रूप में भी धन प्राप्त होता था। राजा महाविजित को ब्राह्मण पुरोहित ने सलाह दी "राजन! जो कोई आपके जनपद में ....वाणिज्य करने का उत्साह रखते हैं, उन्हें आप ....पूँजी (प्राभृत) दें। (इस प्रकार) वह लोग अपने काम में लगे, राजा के जनपद को नहीं सतायेंगे। आप...................को महान् (धन—धान्य की) राशि (प्राप्त) होगी, जनपद (=देश) भी पीडा—रहित, कंटक—रहित क्षेम—युक्त होगा।"[5]

---

१. अखिलेश्वर मिश्रा, शोध प्रबन्ध, पृष्ठ १५१;

२. बहु वोहारुपजीविनोपिस्स हत्थतो पण्णे आरोपेत्वा अट्ठारसकोटिसंखं धनं इणं गण्हिसुं। ते महासेट्ठि न आहरुपेति/— खदिरंगार जातक, संख्या ४०

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ५२१

४. समुद्दवाणिज जातक;

५. दीघ—निकाय, कुटदन्त—सुत्त १/५

व्यापारी कभी–कभी अधिक धन अर्जित करने के लोभ में पड़कर छल–कपट का सहारा ले लेते थे। एक सेठ ने बीस हजार प्रतिशत लाभ प्राप्त किया, जिसमें एक हजार कर्षापण गाड़ी पर रखने, ले जाने, रक्षकों एवं प्रतिहारों को घूस देने में व्यय किया।[1] राजदरबार में हाथी, घोडे, मणि, सुवर्ण आदि विभिन्न वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने वाले अर्घ–कारक ने सरहद्दी घोडे के व्यापारी से रिश्वत लेकर **तण्डुल-नलिका** का मूल्य भीतर–बाहर (=सब) वाराणसी बताया।[2] धन के लोभ से व्यापारी तराजू की डण्डी मारते थे वे इस प्रकार के कूटकर्म करके उसे वैसे ही छिपाते थे जैसे मछली पकड़ने वाला मछली पकड़ने के कांटे को।[3] इसी प्रकार अन्यत्र एक व्यापारी सुवर्ण की थाली को मुफ्त लेने के चक्कर में सुवर्ण थाली की स्वामिनी के साथ दुर्व्यवहार करता है।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों को अर्थशास्त्र सम्बन्धी शिक्षा भी दी जाती थी। विनयपिटक के महावग्ग में उल्लेख आया है कि– उपालि के माता–पिता के मन में ऐसा हुआ 'यदि उपालि लेखा सीखेगा तो उसकी ॲंगुलियॉ दुखेंगी।............यदि उपालि गणना (=हिसाब) सीखे तो उसकी जॉंघ दुखेगी..............यदि उपालि रूप को सीखेगा तो उसकी ऑंखे दुखेगी।'[5] यहॉं पर लेखा एवं गणना का अर्थ तो स्वतः स्पष्ट है 'रूप' को अर्थ मुद्रा शास्त्र या सर्राफी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में रूपाध्यक्ष नामक अधिकारी का उल्लेख आया है जो मुद्रा–निर्माण विभाग से सम्बन्धित था।

---

१. जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १६२;

२. तण्डुलनालि जातक, संख्या ५;
"किमग्घति तण्डुलनालिकाय
अस्सान मूलाय वदेहि राज!
वाराणसिं सन्तरवाहिरन्तं
अयमगघति तण्डुलनालिका।। "

३. निमि जातक, जातक संख्या ५४१;

४. सेरिवाणिज जातक, संख्या ३;

५. विनयपिटक, महावग्ग, १/३/६,

व्यापारिक केन्द्र (वाजार)

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से हमें बाजारों का विवरण प्राप्त होता है। शहरों में विभिन्न वस्तुओं की दुकानें सजी रहती थी जो मिलकर एक वाजार का रूप धारण कर लेती थी। मिथिला नगरी सुविभक्ता और अन्दर अनेकानेक दुकानों वाली थी।[१] विनयपिटक के चुल्लवग्ग में हर्रापाक (पंसारी) की दुकान का उल्लेख मिलता है।[२] वाजार शहरों के अतिरिक्त गॉवों में भी लगते थे। गॉव में उत्पादित वस्तुओं की विक्री प्रायः गॉव के बाजार में ही हो जाती थी। कभी–कभी बचे हुए माल को शहर पहुँचा दिया जाता था।[३] बनारस में हजार लोहारों वाला एक लोहार–गाँव था। आस–पास गॉव के लोग इस लोहार गाँव में कुल्हाडी, फरसा, फाल, सूई एवं नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्र बनवाने के लिए आते थे।[४]

भेड़, सुअर, मछली, बकरी आदि पशुओं का वध करके इनके मॉस को दुकानों में रखकर बेचा जाता था।[५] घ्रत जातक में गन्धि (सुगन्धि) की दुकान का प्रसंग आया है।[६]

---

१. कदाह मिथिलिं फीत सुविभत्तन्तरापणं/ महाजनक जातक, संख्या ५३६;

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/४/६

३ मेहता, प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २५१

४. सूची जातक,

५. निमि जातक, संख्या ५४१;

६. घ्रत जातक, संख्या ४५४;

प्रारम्भिक बौद्ध–साहित्य से स्पष्ट है कि एक विशिष्ट स्थान पर एक विशिष्ट वस्तु की पूरी एक वीथि (गली) होती थी जहॉ उस वस्तु का विक्रय होता था। श्रावस्ती में कमल–गली थी जहॉ से स्थविर आनन्द ने नील–कमलों को खरीदा था।[1] वाराणसी की दन्तकार–गली में हाथी दाँत की वस्तुऐं निर्मित की एवं बेची जाती थी।[2] घ्रत जातक में धोबी गली का उल्लेख मिलता है।[3] इसी प्रकार कभी–कभी एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वालों का पूरा–पूरा एक गॉव बसा हुआ होता था जैसे मछुआरों का गॉव, बढ़इयों का गाँव एवं लोहारों का गॉव आदि।

नगर–द्वार पर भी बाजार लगता था। हरी सब्जियॉ उत्तरी पांचाल के चार द्वार पर बेची जाती थी।[4]

छोटे–छोटे व्यापारी घूम–घूम कर फेरी लगाते हुए अपने सामानों को बेचते थे। वैंहगी में समान रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण कर उसका विक्रय किया जाता था। महाचण्डाल गामडे का एक चण्डाल प्रातः काल आरण्य में जा पके मधुर फलों से वैंहगी भर, उन्हें बेचकर अपने परिवार का पोषण करता था।[5] आज के सब्जी–विक्रेता की तरह उस समय भी गाड़ियों में माल रखकर बेचा जाता था। मंस जातक में एक शिकारी अपनी गाड़ी बहुत से मांस से भरकर शहर में उसे बेचने के लिए जाता दिखाई पड़ता है।[6]

---

१. पदुम जातक, संख्या २६१;

२. कासाव जातक, संख्या २२१;

३. घ्रत जातक, संख्या ४५४;

४. अखिलेश्वर मिश्र, शोध प्रबन्ध, पृष्ठ १५३;

५. अम्ब जातक, सख्या ४७४;

६. मंस जातक, संख्या ३१५;

कुछ बनिये लोगों के दरवाजे–दरवाजे आवाज देते हुए अपना माल बेचते थे। सेरिव नामक देश मे दो बनियों का गली–गली आवाज देते हुए सौदा बेचनें का वर्णन आया है। ये फेरी वाले थैली में अपना सौदा एवं नाप–तौल हेतु तराजू अपने साथ लिए रहते थे।[1]

अन्तर्देशीय एवं विदेशी व्यापार-

स्थल मार्ग

व्यापारिक प्रगति में मार्गो की विशिष्ट भूमिका होती है। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है देश के सभी प्रमुख नगर एवं व्यापारिक केन्द्र थल तथा जल–मार्गो द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध थे और आगे बढ़कर ये मार्ग भारत को दूसरे देशों के साथ सम्बद्ध करते थे।

बुद्धकालीन भारत के व्यापार पर जब हम विचार करते हैं तो हमें अनेको बार माल से लदी हुई ५०० गाड़ियों का समूह एक स्थान से दूसरे स्थान व्यापार हेतु जाता हुआ दिखाई देता है। विनय–पिटक में वेलठ्ठकच्चान (=कात्यायन) गुड़ के घड़ों से भरी पाँच सौ गाड़ियों के साथ राजगृह से अंधकविंद जाने वाले रास्ते पर जाता है।[2] दीघ–निकाय के पायासिराजञ्ञ–सुत्त में पॉच–पाँच सौ गाड़ियाँ (कुल एक हजार) अपने दो मालिकों को नेतृत्व में पूर्व देश से पश्चिम देश (=जनपद) को जा रही थी।[3] जातको में तो ऐसे चित्रों की भरमार है।

---

१. सेरिवाणिज जातक, संख्या ३;

२. विनय–पिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २३६;

३. दीघ–निकाय, पायासिराजञ्ञ सुत्त २/१०, हि० अनु० पृष्ठ २०७

स्पष्ट है कि व्यापारी समूह देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाते थे। ये यात्री विभिन्न राजमार्गों, महापथों एवं महामार्गों से अपने इष्ट स्थान पर जाते थे।

बुद्धकाल का सबसे प्रसिद्ध तथा प्रचलित महापथ वह था जो पूर्वी भारत को पश्चिमी भारत से जोडता था।[1] यही मार्ग 'उत्तरापथ मार्ग' कहलाता था। यह मार्ग बिहार राज्य के राजगृह से चलकर उत्तर–पश्चिम में गन्धार राष्ट्र की राजधानी तक्षशिला तक पहुँचता था। राजगृह से प्रारम्भ होने वाला यह महामार्ग वैशाली, नालदा, पाटलिपुत्र, वाराणसी, प्रयाग, कान्यकुब्ज, सांकास्य, सोरों, वेंजर, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, शाकल से होता हुआ तक्षशिला पहुँचता था।

राजगृह का जीवक कौमारभृत्य राजगृह से सुप्रसिद्ध वैद्य के पास तक्षशिला सम्भवतः इसी मार्ग का अनुसरण करके गया था। यद्यपि उसकी इस यात्रा का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता है, परन्तु लौटते समय जीवक साकेत होते हुए राजगृह आया था, जहाँ उसने श्रेष्ठी–भार्या के सात वर्ष पुराने सिर–दर्द को ठीक कर दिया। मूल स्र्वास्तिवाद के विनय–वस्तु में हमें जीवक की इस यात्रा का पूरा विवरण मिलता है।[2] इस ग्रन्थ के अनुसार जीवक तक्षशिला से चलकर पहले भद्रङ्कन नगर में आया,[3] फिर वहॉ से उदुम्बरिका पहुँचा।[4] उदुम्बरिका से जीवक रोहीतक (वर्तमान रोहतक) आया।[5] वहॉ से चलकर वह मथुरा आया[6] और फिर यमुना के तट पर गया।[6] 'यहॉ से चलने के बाद वह वैशाली पहुँचा'[8] और फिर क्रमशः यात्रा करते हुआ राजगृह पहॅुचा।

---

१. दीघ–निकाय के पायासिराञ्ञ सुत्त, अपण्णक जातक आदि में यात्रियों द्वारा इसी महापथ का प्रयोग किया गया है।

२. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५३८

३. ततो जीवकोऽनुपूर्वेण भद्रंकर नगरमनुप्राप्तः।
गिलगित मेनुस्किप्ट्स, जिल्द तीसरी, भाग द्वितीय, पृष्ठ ३२

४. सोऽनुपूर्वेण उदृम्बरिकामनुप्राप्तः। वही, पृष्ठ ३३

५. ततो जीवको रोहीतकमनुप्राप्तः। वही पृष्ठ ३३

६. ततो जीवकोऽनुपूर्वेण मथुरामनुप्राप्तः। वहीं, पृष्ठ ३५

७. ततो जीवकोऽनुपूर्वेण यमुनातटमनुप्राप्तः। वही पृष्ठ ३६

८. सोऽनुपूर्वेण वैशाली गतः। वही, पृष्ठ ३७

इस प्रकार जीवक का मार्ग तक्षशिला से प्रारम्भ होकर भद्रंकर, उदुम्बरिका, रोहीतक, मथुरा, वैशाली होकर राजगृह पहुँचा था। यद्यपि यह विवरण भी पूरा नहीं है, फिर भी इससे हम राजगृह से तक्षशिला जाने वाले मार्ग के बीच महत्वपूर्ण नगरों का परिचय अवश्य प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान बुद्ध ने अपना बारहवॉं वर्षावास वेंरजा में किया। इसके बाद उन्होंने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह इस उत्तरापथमार्ग का एक अंग था। वेंरजा (मथुरा एवं सोरेय्य के मध्य) में वर्षावास के उपरान्त वे क्रमशः सोरेय्य, सकस्स और कण्ण्कुञ्ज नामक स्थानों से होते हुए प्रयाग पहुँचे, जहाँ वे गंगा को पार करके वाराणसी पहुँचे।

यह महामार्ग राजगृह से तक्षशिला तक ही सीमित नहीं था वरन् आगे बढ़कर जल एवं थल मार्ग द्वारा यह भारत को विदेशों से जोड़ता था। पूर्व में राजगृह चम्पा से स्थलीय मार्ग से सम्बन्धित था एवं चम्पा से जलीय मार्ग द्वारा ताम्रलिप्ति तक आवागमन होता था। ताम्रलिप्ति से समुद्री मार्ग द्वारा व्यापारी सुवर्णद्वीप (दक्षिणी बरमा) तक जाते थे। बाद में चीन से भारत आने–जाने का यही सर्वप्रमुख मार्ग बना।

उत्तर में यह महामार्ग तक्षशिल से आगे बढकर पश्चिमी एवं मध्य एशियाई देशों की ओर चला जाता था। इस प्रकार यह 'उत्तरापथ' दो दिशाओं पूर्व एवं उत्तर–पश्चिम के भारत के बाहर के संसार से भारत को सम्बद्ध करता था।

उत्तर से दक्षिण-पूर्व को जाने वाला मार्ग-

यह मार्ग राजगृह से श्रावस्ती तक जाता था। इस मार्ग पर पड़ने वाले प्रमुख स्थान श्रावस्ती से प्रारम्भ करके सेतव्या, कपिलवस्तु, कुसिनारा, पावा, भोगनगर, जम्बूगाम, अम्बगाम, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, नदिका, कोटिगाम, पाटलिगाम, नालन्दा और राजगृह थे।

भगवान् बुद्ध की अन्तिम यात्र इसी महामार्ग से हुई थी। राजगृह में वर्षावास करने के बाद भगवान् बुद्ध नालन्दा पहुॅचे, यहाँ से चलकर पाटलिगाम पहुँचे जो गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित था। इस समय सुनीध एवं वस्सकार नामक मगध–महामात्य वज्जियों का आक्रमण रोकने के लिए वहॉ नगर वसा रहे थे। जिसे देखकर भगवान् ने भविष्यवाणी की "आनन्द! जितने भी आर्य–आयतन (आर्यो के निवास) है जितने भी वणिक्–पथ (=व्यापार–मार्ग) है उनमें यह पाटलिपुत्र पुट–भेदन (माल की गाँठ जहाँ तोड़ी जाय) अग्र (=प्रधान) नगर होगा।"[1] जहॉ उन्होंने भिक्षुओं को चार आर्य–सत्यों का उपदेश दिया। फिर भगवान् ने वैशाली में अम्बपाली नामक गणिका का आतिथ्य स्वीकार किया।[2]

वैशाली से भगवान् भण्डगाम, अम्बगाम (=आम्रगाम) **जम्बूगाम (=जम्बूग्राम)** होते हुए भोगनगर पहॅुचे। जहॉ उन्होंने आनन्द–चैत्य में बिहार किया एवं भिक्षुओं को चार महाप्रदेश का उपदेश दिया।[3] इसके बाद भगवान पावा गये जहाँ चुन्द कर्मार (=सोनार) ने उत्तम खाद्य–भोज्य और बहुत सा शूकर–मार्दव (सूकर–मद्दव) से भिक्षु संघ सहित महात्मा बुद्ध का स्वागत किया।[4] भोजन खाने के पश्चात् भगवान् को खून गिरने की पीड़ादायक बीमारी उत्पन्न हुई। इसी स्थिति में उन्होंने कुसीनारा की ओर प्रस्थान किया। कुसीनारा में मल्लों के शालवन उपवत्तन में तथागत ने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।[5]

---

१ दीघ निकाय, २/३/३/२

२. दीघ निकाय २/३/३/४

३. दीघ निकाय २/३/३/६

४. दीघ निकाय २/३/३/८

५. दीघ निकाय २/३/४

राजगृह से तक्षशिला तक जाने वाला महामार्ग, नालन्दा एवं पाटलिपुत्र होकर गुजरता था। नालन्दा एवं पाटलिपुत्र, उत्तर में दक्षिण पूर्व को जाने वाले मार्ग में भी पड़ते थे। अतः ये दोनों स्थान उत्तर–पश्चिम के प्रमुख नगरों के साथ वैशाली, कपिलवस्तु एवं श्रावस्ती से भी जुड़े थे।

नालन्दा से एक सडक गया को भी जाती थी जो ताम्रलिप्ति, गया एवं वाराणसी मार्ग को जोडती थी।

उत्तर से दक्षिण-पश्चिम जाने वाला मार्गः-

यह मार्ग 'दक्षिणापथ' भी कहलाता था जो उत्तर में श्रावस्ती से प्रारम्भ होकर दक्षिण में प्रतिष्ठान (पैठन) तक जाता था। इस मार्ग के मध्य में पड़ने वाले स्थान प्रतिष्ठान, माहिष्मती, उज्जैनी, गोनद्ध, विदिशा, वनसाह्वय या वनसव्हय, कौशाम्बी, साकेत एवं श्रावस्ती थे।

बावरी ब्राह्मण कोसलनरेश प्रसेनजित् का पुरोहित था। वह सन्यासी होकर, अपने शिष्यों के साथ कोसल जनपद के रम्य नगर (श्रावस्ती) से दक्षिणापथ को गया। वहाँ गोदावरी नदी के तट पर निवास करने लगा।[१]

---

१. सुत्त–निपात ५/१

कोसलान पुरा रम्मा, आगमा दक्खिणापथं,

आकिञ्चञ्ञं पतथयानो, ब्राह्मणो मन्तपारगू।।

सो अस्सकस्स विसये, अलकस्स समासने।

वसी गोदावरी कूले, उञ्छेन च फलेन च।

बावरी ब्राह्मण के अजित, तिस्समेत्तेय्य, पुण्णक, मेत्तगू, धोतक, उपसीव आदि सोलह सदाचारी ब्राह्मण शिष्यों ने इसी दक्षिण–पश्चिम से उत्तर जाने वाले महामार्ग का अनुसरण करके, राजगृह में भगवान् बुद्ध का दर्शन प्राप्त किया। वे पहले प्रतिष्ठान[१] गये वहाँ से माहिष्मती,[२] फिर उज्जयिनी,[३] गोनद्ध[४], विदिशा,[५] वन नगर[६] 'फिर वहाँ से कौशाम्बी,[७] साकेत[८] तत्पश्चात् उत्तम नगर श्रावस्ती[९] पहुँचे[१०]।

---

१. पैठन

२. मध्यप्रदेश में स्थित माहिष्मती

३ वर्तमान उज्जैन, मध्यप्रदेश

४. गोधपुर का नाम है– अठ्ठकथा

५. वर्तमान भेलसा, मध्यप्रदेश

६. तुम्बनगर को कहते हैं, वर्तमान तुम्बेन, मध्यप्रदेश।
कोई–कोई 'वनश्रावस्ता' भी कहते है– अठ्ठकथा।

७. कोसम, जिला इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश

८. अयोध्या, उत्तरप्रदेश

९. सहेट महेट, जिला बहराइच, उत्तरप्रदेश

१० सुत्त–निपात ५/१;

वावरि अभिवादेत्वा, कत्वा च नं पदक्खिणं।
जटाजिनधरा सब्बे, पक्कामुं उत्तरामुखा।।
अलकस्स पतिठ्ठानं, पुरिमं माहिस्सतिं तदा।
उज्जेनिं चापि गोनद्धं, वेदिसं वनसण्हय।।
कोसम्बि चापि साकेतं, सावत्थिं च पुरुत्तमं।
....।।

इस मार्ग पर पड़ने वाली कौशाम्बी नगरी व्यापारिक मार्ग द्वारा एक ओर वाराणसी से जुड़ी हुई थी तो दूसरी ओर राजगृह से। माहिष्मती से एक मार्ग भरूकच्छ को भी जाता था। इसी मार्ग के द्वारा उज्जैनी (उज्जयिनी) पश्चिमी समुद्र तट से भरुकच्छ और सुप्पारक जैसे बन्दरगाहों से जुड़ी हुई थी।

उपर्युक्त तीनों महामार्गो के अतिरिक्त अन्य कई छोटे–छोटे मार्ग भी इस काल में विद्यमान थे। पाणिनि ने वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शंकुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ, देवपथ (अन्तिम दो का सम्बन्ध वायुमार्ग से है) का उल्लेख किया है। परन्तु मार्ग सरल एवं सुगम्य नहीं थे। वे अधिकांशतः ऊबड़–खाबड़ थे और प्रायः जंगली या रेगिस्तानी क्षेत्रों से गुजरते थे। टी० डब्लू० राइस् डेविड्स अपनी पुस्तक 'बौद्ध भारत' (बुद्धिष्ट इंडिया) में मार्गों के विषय में कहते हैं "उस समय पक्की सड़क या पुल नहीं थे। गाड़ियाँ जंगलों से होकर किसानों द्वारा बनाई पगडंडियों के रास्ते एक गाँव से दूसरे गॉव धीरे–धीरे लड़खड़ाती हुई जाया करती थी। उनकी गति दो मील प्रति घंटे से अधिक न होती थी। छोटे नालों को तो ये गाड़ियॉ छिछले स्थानों पार कर लेती थी, किन्तु बड़ी नदियाँ नाव से पार की जाती थीं।"[१]

आज से ढाई हजार वर्ष से भी पूर्व काल में सुदूरस्थ प्रदेशों की यात्रा करना एक जोखिमपूर्ण कार्य था। व्यापारियों को अनेकानेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। अपनी सकुशल वापसी के लिए व्यापरी प्रस्थान के पूर्व देवी–देवताओं की प्रार्थना करते थे। वे व्यापार के लिये जाते समय, प्राणियों को मार, देवताओं को बलि चढ़ा, 'हम (यदि) बिना विघ्न–वाधा के (अपनी) अर्थ–सिद्धि करके लौटें, तो फिर आपको बलि चढ़ायेंगे' कह मिन्नत मान (=आयाचना) कर जाते थे। फिर बिना विघ्न–वाधा के अर्थ (=मतलब) पूरा कर, लौट आने

---

१. टी० डब्लू० राइस् डेविड्स, बौद्ध भारत, हि० अनु० ध्रुवनाथ चतुर्वेदी,

पर, 'यह देव–कृपा से हुआ' सोच, बहुत से प्राणियों को मारकर, मिन्नत पूरी करने (=आयाचना) से मुक्त होने के लिए बलि–कर्म करते।'[1] जल रहित लम्बे मार्ग व्यापारियों के सामने एक बडी समस्या थे। काशी का एक व्यापारी पाँच सौ गाड़ियों पर सामान लाद कर साठ योजन वाली मरु–भूमि में जा रहा था। उस मार्ग की रेतीली भूमि सूर्योदय के समय से ही भौर के आग की भाँति इतनी गर्म हो जाती थी कि उस पर चला नहीं जाता था। इसलिए उस कान्तार को पार करने वाले, लकडी, पानी, तिल, चावल सबको गाडियों पर लाद, रात को ही चलते थे। (वह) उषा (अरुणोदय) के समय गाड़ियों को घेरे में खड़ी कर, उन पर मण्डप तनवा, समय रहते ही भोजन समाप्त कर, छाया में बैठे–बैठे दिन बिताते थे। सूर्यास्त होने पर शाम का भोजन खाकर, भूमि के ठंडी होने पर, गाडियों को जुतवा चल देते थे। यह यात्रा समुद्र–यात्रा जैसे होती थी। (उसमें भी) दिशा–प्रदर्शक (=थल नियामक) की जरुरत रहती थी। वह दिशा–प्रदर्शक तारों के आधार पर काफिलें को दिशा–निर्देश करता था।[2]

ऐसे जल–शून्य मार्गों में व्यापारी विशालकाय मटकों में पानी भरकर साथ ले जाते थे।[3] जिन स्थानों पर मार्ग में पानी पाया जाता था वहाँ व्यापारियों को कई बार कुअे (गढ़े) आदि खोदकर जल प्राप्त करना पड़ता था। एक बार एक चतुर व्यापारी एक पत्थर के नीचे पानी का अनुमान कर अपने सेवक से उस पत्थर पर चोट करने को कहा। उस पत्थर पर घाव करते ही पानी का विशालकाय स्रोता निकल पड़ा। सभी व्यापारियों ने पानी पीकर अपनी प्राणरक्षा की। खिचड़ी–भात पकाया और बैलों को भी खिलाया पिलाया।[4]

---

१. आयाचितभत्त जातक, संख्या १६,

२. वण्णुपथ जातक, संख्या २;

३. अपण्णक जातक, संख्या १;

४. वण्णुपथ जातक, संख्या २;

चोर–डाकुओं का भय मार्गो में सदेव विद्यमान रहता था। एक व्यापारी के नेतृत्व में श्रावस्ती से पॉच सौ गाड़ियों का काफिला व्यापार के लिए चला। मार्ग में एक स्थान पर रात्रि में जब सब व्यक्ति सो रहे थे तो बड़ी संख्या में चोर पत्थर–मुगद्र आदि नाना प्रकार शस्त्र लेकर, व्यापारियों को लूटने के विचार से उन्हें घेर कर खडे हो गये परन्तु एक व्यक्ति के पूरी रात जागते रहने के कारण चोरों को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली।[१]

वनों में यात्रियों की रक्षा एवं सहायता के लिए वन–रक्षक होते थे। खुरप्प जातक में पॉच सौ वन–रक्षकों के गॉव का उल्लेख आया है। ये जंगल के किनारे निवास करते थे एवं पारिश्रमिक लेकर मनुष्यों को जंगल पार कराते थे। व्यापारी उनके गाँव में जाकर उनको उनका पारिश्रमिक दे निर्विघ्न जंगल पार कराने के लिए कहते थे।[२] संकट पड़ने पर, चोरों द्वारा व्यापारियों के काफिले पर आक्रमण होने पर वन–रक्षक बड़ी वीरता प्रदर्शित करते हुए, अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर सार्थो को मार्ग पार कराते थे।

पूरे प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में सुदूरस्थ देशों की यात्रा व्यापारी एक बड़े समूह में ही करते दिखाई पडते हैं। मार्ग में चोरी–डकैती आदि का भय व्याप्त रहता था इस कारण भी व्यापारी एक साथ संगठित होकर यात्रा करते थे।

कभी–कभी अनभिज्ञता के कारण विषैले फल, फूल, पत्ते खाकर व्यापारियों जान–माल की बड़ी हानि उठानी पड़ती थी। बनारस से पश्चिम की ओर जाते हुए जंगली मार्ग में व्यापारी–समूह ने फलों से लदा किम्पक्क वृक्ष देखा। उसके टहने, शाखाएँ, पत्ते तथा फल, आकार, वर्ण, रस और गन्ध सब देखने में बिल्कुल आम के सदृश ही थे।

---

१. जागर जातक, संख्या ४१४

२. खुरप्प जातक, जातक संख्या २६५;

३. वही; महासुतसोम जातक, संख्या ५३७;

कुछ आदिमियों ने वर्ण, गन्ध, रस से आकर्षित होकर, उसे आम का फल समझकर खाया, कुछ ने सार्थवाह (काफिले के नेता) की अनुमति लेना उचित समझाा। सार्थवाह ने, जो फल लिये खड़े थे, उनसे वह फल फेंकवा दिया, जो खा लिये थे, उन्हें वमन करा करके दवाई दी। उनमें से कुछ तो निरोग हो गये, लेकिन जो बहुत पहले खा चुके थे, वे मर गये। एक साथ यात्रा करने वाले व्यापारियों का समूह 'सार्थ' कहलाता था। उस समूह में एक प्रमुख व्यक्ति होता था जो 'सार्थवाह कहलाता था जो अपनी चतुरता एवं कुशलता से यात्रियों को सकुशल मार्ग पार करवाता था।

बौद्ध साहित्य में स्थल मार्ग की पाँच प्रकार की बॉधाओं का उल्लेख है।

१. चोरों का कान्तार– जिस मार्ग पर चोरों का दखल हो, वह चोर–कान्तार कहा जाता है।

२. व्याल (=हिंसक जन्तुओं) का कान्तार– सिंह आदि व्यालों से अधिकृत मार्ग व्याल–कान्तार कहलाता है।

३. भूतों का कान्तार– भूतो आदि अमनुष्यों का खतरा जिस मार्ग पर हो वह भूतों का कान्तार कहा जाता है।

४. निर्जल (=निरुदक)– जल–शून्य मार्ग निर्जल कान्तार कहलाता है।

५. अल्पभक्ष कान्तार– खाने–पीने लायक कन्दमूल आदि से शून्य मार्ग अल्पभक्ष कान्तार कहलाता है।[१]

---

१. अपण्णक जातक, संख्या १;

स्थल मार्ग में व्यापारिक एवं घरेलू उपयोग के लिए बैलगाड़ी ही तत्कालीन आवागमन का सर्वप्रमुख साधन थी। थेरगाथा में कहा गया है कि बोझ से लदी हुई गाड़ी को उत्तम बैल खींचा करते थे। अतिभार होने की अवस्था में भी वे तोड़कर भागते नहीं थे।[१] एक धनी ब्राह्मण ५०० गाडियाँ लाद व्यापार करता हुआ पूर्वान्त से अपरान्त जाता था। वह स्वयं सुसज्जित हो, श्वेत–वृषभ जुते रथ में बैठ, अपने सारे काफिले को आगे कर, स्वयं मार्ग में सहायक पुरुषों से घिरा पीछे–पीछे चलता था।[२] नन्दिविसाल जातक एवं कण्ह जातक से स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कि माल से लदी भारी गाड़ियों को वैल खींचा करते थे।[३] टी० डब्लू० राइस डेविड्स अपनी 'बुद्धिष्ट इण्डिया' कमें कहते हैं, (यात्रियों) काफिले, जिनमें छोटी–छोटी दो पहियों वाली दो बैलिया–गाड़ियों की लम्बी कतार हुआ करती थी, उस समय की एक उल्लेखनीय विशेषता थी।[४]

व्यापारिक दृष्टिकोण से बैल के अतिरिक्त अन्य जिन पशुओं का उल्लेख मिलता है उनमें घोडे, गदा, खच्चर, ऊँट एवं हाथी उल्लेखनीय है। अनुसासिक जातक में वाराणसी के राजमार्ग में विभिन्न खाद्य--वस्तुओं से भरी गाड़ियों को बैलों के अलावा घोड़े एवं हाथी द्वारा खींचे जाने का उल्लेख है।[५]

---

१ यथापि भद्दो आजञ्यो, धुरे युत्तो धुरस्सहो
मथितो अतिभारेन, सथुगं नातिवत्ताति। थेरगाथा ६५६

२. महासुतसोम जातक, संख्या ५३७;

३. नदिविसाल जातक, संख्या २८; कण्ह जातक संख्या २९;

४. टी० डब्लू० राइस डेविड्स, बुद्धिष्ट इण्डिया, पृष्ठ ६७;

५. अनुसासिक जातक, संख्या ११५;

जल मार्ग

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में जल मार्ग द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य दोनों व्यापारों का उल्लेख है। जलमार्ग का तात्पर्य नदियों एवं समुद्र से है। देश के अन्दर व्यापार करने का उत्तम माध्यम नदियॉ थी। विदेशी व्यापार में मुख्यतः सामुद्रिक जल मार्ग के ही माध्यम से किया जाता था।

देश के बडे नगरों के विकास में नदियों ने भी अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। बड़े नगरों में मुख्यत. काशी, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, वैशाली, चम्पा आदि नगर गंगा, सरयू, गंडक एवं इन नदियों के संगम पर बसे होने के कारण व्यापारिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण हुए।

गंगा एवं यमुना के संगम पर बसे प्रयोग का व्यापारिक महत्व अत्यधिक था। यह जलीय मार्ग का एक प्रमुख केन्द्र था। यहॉ से वाराणसी को जाने वाले मार्ग चुनार होते हुए आता है। गंगा के तट पर स्थित बनारस भी जलीय मार्ग से व्यापार का प्रमुख नगर था। जातको में विदेह से गन्धार जाने वाले मार्ग का भी उल्लेख है।[1] मेहता महोदय का विचार है कि यह मार्ग जलीय मार्ग था जो नदियों के माध्यम से वाराणसी होते हुए जाता था।[2] इसी प्रकार प्रयाग से मथुरा का मार्ग भी यमुना नदी के व्यापारिक महत्व को स्पष्ट करता है।[3] गंगा नदी के मुहाने से लेकर चम्पा, पाटलिपुत्र, वाराणसी और सहजाति तक माल एवं यात्रियों का आवागमन होता था। समुद्दवाणिज जातक में वाराणसी के वड्ढकिगाम के १००० बढ़इयों का परिवार कर्जदारों से मुक्ति पाने के लिए गंगा नदी के ही मार्ग द्वारा समुद्र के एक उर्वर द्वीप की ओर पलायन कर गया था।[4] महाजनक जातक और संख जातक में क्रमशः चम्पा और वाराणसी (मोलिनी) के व्यापारियों का सुवर्णभूमि (दक्षिणी बरमा) जाने का उल्लेख है।[5] ये व्यापारी गंगा नदी द्वारा पहले ताम्रलिपि पहुँचते थे और फिर वहाँ से सुवर्ण्णभूमि जाते थे।[6]

---

१. जातक तृ०, पृ० ३६५

२. मेहता– प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० २२६

३. जातक ष०, पृ० ४४७

४. समुद्दवाणिज जातक, संख्या ४६६

५. महाजनक जातक, संख्या ५३६; संख जातक, संख्या ४४२,

६. भरतसिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५४३;

समुद्री–मार्ग से विदेशी व्यापारिक सम्बन्धों पर विभिन्न जातक कथाओं से अच्छा प्रकाश पडता है।

सुप्पारक जातक से स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारी खुरमाल (बेबिलोन के आस–पास का समुद्र), अग्निमाल (लाल सागर), वलभामुख (भूमध्यसागर), नलमाल (नहर जो लाल सागर एवं नील नदी को मिलाती थी); कुशमाल (अफ्रीका के उत्तरी पूर्वी किनारे के नुबियां नामक स्थान के आसपास के समुद्र से मिलाया गया है)[१] तक समुद्री यात्रायें करते थे। बावेरु जातक[२] से भारत एवं बेबीलोन के मध्य होने वाले व्यापारिक सम्बन्धों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है। इसमें भारतीय पक्षियों कौआ एवं मोर का बेबिलोन में अच्छी कीमत लेकर निर्यात की बात कही गई है।

महाजनक जातक एवं शंखजातक में भारतीय व्यापारियों की सुवण्णभूमि यात्रा का उल्लेख है।[३] वालाहस्स जातक में हमें व्यापारियों को तम्बपण्णि (ताम्रपर्णि–लंका) नगर में जाते देखते हैं।[४] इससे भारत एवं श्रीलंका के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है।

भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर भ्ररुकच्छ,[५] सुप्पारक[६] सुप्रसिद्ध बन्दरगाह थे। अन्य बन्दरगाहों में करम्बिय,[७] गम्भीर[८] एवं सेखि[९] वन्दरगाहों का उल्ख जातक कथाओं में आया है।

---

१. वही, पृष्ठ १५५;

२. बावेरु जातक, सख्या ३३६;

३. महाजनक जातक, संख्या ५३६, शंख जातक, संख्या ४४२;

४. वालाहस्स जातक, संख्या १६६,

५. सुप्पारक जातक, जातक सख्या ४६३;

६. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ४८६;

७. पण्डर जातक, जातक संख्या ५१८;

८. लोसक जातक, जातक संख्या ४१

९. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ५४५;

जलमार्ग विशेषकर सामुद्रिक जलमार्ग से यात्रा करना स्थलमार्ग से अधिक संकटपूर्ण था। नौकाओं के टूट जाने या उनमें छेद हो जाने पर सभी यात्रियों के प्राण संकट–ग्रस्त हो जाते थे। प्रतीत होता है कि इन जहाजों की संरचना अधिक मजबूत नहीं होती थी स्वर्ण–भूमि जाने वाली नौका, जिसमें ७०० व्यक्ति सवार थे, समुद्र में सात सौ योजन जाकर टूट गयी। महाजनक ने घी–शक्कर भरपेट खाकर, तेल से सने वस्त्र पहनकर जहाज के मस्तूल से समुद्र में छलॉंग लगा ली। वाकी यात्री मच्छ एवं कच्छुओं का शिकार वन गये। इस जातक कथा मे 'भगवान भी उसी की सहायता करते है जो स्वयं अपनी सहायता करता है'– यह सूक्ति चरितार्थ होती है। महाजनक बिना समुद्र–तट देखे, अपनी प्रयत्नों की समाप्ति सीमा पूर्णतः अदृश्य देखते हुए भी, यथा–शक्ति यथा–बल मनुष्य को अपना कर्तव्य करना चाहिए ऐसा मानकर लगातार सप्ताह भर तैरता रहता है और अन्त में मणि–मेखला नामक देवी उसकी प्राणरक्षा करती है। इसी प्रकार की कथा शंख जातक में भी आती है जहॉं मणि मेखला नामक देवी शंख नामक सदाचारी ब्राह्मण की प्राण रक्षा करती है। श्री सिलवॉं लेवी का कहना है कि मणि–मेखला देवी का पीठ कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार मे था। देवी की हैसियत से उसका प्रभाव कन्याकुमारी से निचले वर्मा तक था।[१]

कभी–कभी नौकायें तूफानी अथाह जल–राशि में फॅंस जाती थी। साता सौ यात्रियों वाली नौका वलभामुख नामक समुद्र में फॅंस गयी। चारों ओर पानी इस तरह उछल रहा था मानो चारों ओर के तट टूट गये हों, ऊॅंची–ऊॅंची लहरे प्रपात की तरह प्रतीत हो रही थी। कानों के पर्दे को फाड़ने वाली एवं हृदय को चूर–चूर कर देने वाली डरावनी आवाजें आ रही थी।[२]

विशालकाय जलचरों से भी मार्ग संक्रमित रहता था। मरुकच्छ से चले व्यापारियों की नौका मगरमच्छों ने तोड दी।[३] सीमा से अधिक भार हो जाने पर भी व्यापारियों की नौका समुद्र में समा जाती थी।[४]

---

१. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० ५६;

२. सुप्पारक जातक

३. सुसन्धि जातक, जातक संख्या ३६०;

४ वाणिजानं यथा नावा अप्पमापभरा गरु, अतिभारं समादाय अण्णवे अवसीदति।।– महानारद कश्यप जातक, संख्या ५४४; श्लोक ६५

सामुद्रिक व्यापारी तटदर्शी पक्षी लेकर सामुद्रिक यात्रायें करते थे। अंगुत्तर–निकाय में कहा गया है कि 'सामुद्रिक व्यापारी तटदर्शी पक्षी को लेकर नौका को समुद्र में छोड़ते थे। उन्हें जब नौका पर बैठे–बैठे तट नहीं दिखाई देता था, तो वह तटदर्शी पक्षी को छोड़ते थे। वह विभिन्न दिशाओं में भ्रमण करता था। यदि उसे चारों दिशाओं में किसी एक दिशा की ओर भी तट दिखाई दे जाता तो वह उसी ओर चला जाता, यदि उसे किसी ओर तट नहीं दिखाई देता तो वह नाव पर लौट आता।[1] रात्रि के समय नाविक तारों के आधार पर दिशा–निर्धारण करता था।[2]

चुल्लसेट्ठि जातक से ज्ञात होता है कि व्यापारियों की सहायता के लिए राज्य की ओर से स्थलपथकर्मक (स्थल–मार्ग के कर्मचारी) एवं जलपथकर्मिक (जल–मार्ग के कर्मचारी) नियुक्त होत थे।[3]

सम्पूर्ण जलमार्गी यात्राओं में नाविकों की अति महत्वपूर्ण भूमिका होती थी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि व्यापारिक दृष्टिकोण से जल एवं थल दोनों ही मार्गो का महत्वपूर्ण स्थान था। मार्ग में कठिनाइयों की परवाह किये बिना यात्री सुदूरस्थ प्रदेशों में आवागमन किया करते थे। बड़े–बड़े व्यापारी ही नही छोटे व्यापारी, साधु सन्यासी, विभिन्न करतब दिखाने वाले एवं विशेषकर विद्यार्थियों की सुदूर यात्राओं का प्रसंग सहज ही द्रष्टव्य है।

---

१. अंगुत्तर निकाय, हि० अ०, तृतीय, पृष्ठ ७३;

२. वण्णुपथ जातक;

३. चुल्लसेट्ठि जातक, जातक संख्या ४;

व्यापारिक वस्तुऐं-

विनयपिटक एवं सुत्तपिटक के अध्ययन से यह स्पष्ट है जीवनोपयोगी सभी वस्तुएं बाजार में उपलब्ध रहती थी। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है हमें पूरे प्रारम्भिक पालि साहित्य में माल से लदी हुई गाड़ियों के एक विशालकाय समूह (जिनकी संख्या परम्परागत रूप से ५०० बतायी गयी है) व्यापार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए देखते है। यद्यपि प्रायः यह स्पष्ट नहीं है कि उनमें कौन सी वस्तुएं लदी होती थी। इस काल तक उत्पादन कार्य बडे पैमाने पर होने लगा। कसि–भारद्वाज के यहॉ ५०० हलों की खेती होती थी।[1] अन्यत्र एक ग्रामवासी के पास पॉच सौ फालों के होने की बात ज्ञात होती है।[2] इतने हल–फाल के उपयोग के लिए निश्चय ही विशाल भू–सम्पत्ति एवं कर्मकरों की आवश्यकता होती होगी। इन सबसे जो उपज होती होगी उसका स्वतः उपभोग के बाद बड़ी मात्रा में व्यापारिक दृष्टिकोण से भी सदुपयोग किया जाता होगा। वाराणसी के पिलियसेठ के यहाँ एक हजार गाड़ी लाल चावल छटवाकर कोठेमें रखा था।[3] इससे ये अनुमान लगाना उचित ही प्रतीत होता है कि बड़ी संख्या में व्यापार के लिए जाती हुई जो गाड़ियाँ हमें दिखाई देती है उनमें अन्न एक महत्वपूर्ण व्यापारिक वस्तु रहा होगा।

धान्य का सुदूर क्षेत्रों में व्यापार किये जाने का स्पष्ट प्रमाण भी पालि ग्रन्थों में मिलते हैं। अकतञ्जु जातक में एक प्रत्यन्त (देश) वासी सेठ अनाथपिण्डिक का मित्र, अपने प्रत्यन्त देश की पैदावार स पॉच सौ गाड़ियॉ भरकर, अपने आदमियों को कहा– "भो! जाओ! इस सामान को श्रावस्ती ले जाकर, हमारे मित्र बड़े सेठ अनाथपिण्डिक की उपस्थिति में वेंच कर, इसके बदले में सामान ले आओ।"[4] राजमार्ग पर धान, मूँग आदि से भरी हाथी, घोड़े, वैलों वाली गाड़ियों के

---

१. सुत्त–निपात, १/४;

२. जातक संख्या २१८;

३. जातक संख्या १३१;

४. अकतञ्जु जातक, संख्या ६०;

आने का उल्लेख आया है।[1] वेलट्ठकच्चान (= कात्यायन) सभी गुड़ के घड़ों से भरी पॉच सौ गाडियों के साथ राजगृह से अंधकविद व्यापार हेतु जाता है।[2] सालक जातक में वाराणसी के एक धान्य व्यापारी के कुल का उल्लेख है।[3] इसी प्रकार अन्यत्र भी धान्य व्यापारियों का उल्लेख आया है। स्पष्ट है कि अनाज व्यापार का एक प्रमुख वस्तु था।

अनाज के अलावा अन्य कृषि खाद्य–उत्पादों का भी वाजार मे क्रय–विक्रय होता था। सब्जी बेचनें वाले कुजडे कहलाते थे। कुदाल–पण्डित नामक कुजडा साग, लौकी, कद्दू (तथा अन्य) सब्जी तरकारी बोकर एवं वेंचकर जीवन व्यतीत करता था।[4] एक ढोंगी तपस्वी ने राजोद्यान में एक ओर सब्जी–तरकारी लगाकर, व्यापारियों के हाथ उसे वेंच कर, कार्षापण तथा मासक एकत्र किया था।[5] श्रावस्ती--निवासी उपासक नाना प्रकार की जड़ी–बूटी तथा लौकी–कद्दू आदि बेचकर गुजारा करता था।[6] फलों का विक्रय भी होता था।[7]

अन्तर्देशीय एवं विदेशी व्यापार में कपड़े विशेष कर सूती कपड़े का विशिष्ट स्थान था। वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में सबसे अधिक ख्याति काशी को प्राप्त थी। यही कारण है कि बनारसी कपडे संख्यातीत गाडियों में लादकर विक्रय के लिए सुदूर देशों में भेजे जाते थे।[8] लाल वस्त्रों से लदी पॉच सौ गाडियों को साथ लिए वाराणसी के एक व्यापारी का श्रावस्ती जाने का

---

१. अनुसासिक जातक, संख्या ११५;
२. विनयपिटक, हि० अनु०, पृष्ठ २५६;
३. सालक जातक, सख्या २४६
४. कुदाल जातक, संख्या ७०,
५. सोमनस्स जातक, संख्या ५०५;
६. पण्णिक जातक, संख्या १०२;
७. जातक संख्या ४७४;
८. उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगरजीवन, पृष्ठ १२६;

उल्लेख है, जो बीच मे नदी पार न कर सकने के कारण किनारे पर ही माल वेचने के लिए रुका रहा।[1] काशी के सूती एवं रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त क्षौम, कपास, कम्बल (ऊनी), सन् एवं भाँग के वस्त्रों का भी क्रय विक्रय होता था। गन्धार के ऊनी कम्बल[2] की भी समाज में मॉग थी। उद्डीयान[3] तथा शिवि[4] अपनी ऊनी शालों के लिए प्रसिद्ध थे।

व्यापारी मुख्यतः रेशम, मलमल, बारीक कपडे, चाकू–छुरी, अस्त्र–शस्त्र, जरदोजी, और कसीदे, कम्बल, सुगन्धित वस्तुएँ, औषधियॉ, हाथीदाँत और उसकी बनी वस्तुएँ, जवाहिरात और सोने (और कभी–कभी चॉदी) का व्यापार किया करते थे।[5] सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा आदि धातुओं का भी व्यापार किया जाता था। सुवर्णकार सुवर्ण के वेणी, ग्रेवेयक, कण्ठाहार, कुण्डल, अँगूठी, पाजेब, कायूर आदि अलंकरणों का निर्माण करते थे। स्वर्णमय चरणपादुका, चँवर, जंजीर, माला, कुण्डल, हस्ताभरण, मेखला, ध्वजा आदि पुरुषों द्वारा धारण की जाती थी। धन–सम्पन्न व्यक्तियों के पशु–गौ, अश्व हाथी भी स्वर्णलंकारों से सजाये जाते थे। दैनिक जीवनोपयोगी थाली, तश्तरी, कलश का निर्माण भी सुवर्णकार करता था। रजतमय वस्तुओं का विवरण पालि साहित्य में अधिक नहीं आया है तथापि सुवर्णकार रजत थाली, चरणपादुका, पलॅग, कर्णमलहरी आदि का निर्माण करते थे। इन बहुमूल्य धातुओं से निर्मित वस्तुओं का क्रय–विक्रय प्रायः समाज के धनाढ्य वर्ग के द्वारा ही किया जाता था।

---

१. धम्मपद्दट्ठकथा, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४२६;

२. महावेस्सन्तर जातक, संख्या ५४७;

३. जातक ४, ३५२;

४. जातक ४,४०१

५. बौद्ध भारत, हि० अ०, पृष्ठ ६८;

लोहा एक सस्ती एवं उपयोगी धातु था। इसलिए ही भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को लोहे के पात्रों के प्रयोग की आज्ञा दी थी।[1] काशी में एक हजार लोहारों का गॉव था।[2] आस–पास के गॉव के मनुष्य लोहार–गाँव से छुरी, कुल्हाड़ी, फरसा, फाल, सूई आदि वनवाने के लिए आते थे। कृषि उपयोगी विभिन्न औजार के साथ–साथ शिकार एवं युद्ध के लिए विभिन्न आयुध वर्छी, तलवार, छुरी, वाण, कवच तथा घरेलू उपयोग के तवे, थाली कमण्डल, कड़ाही आदि इस काल में बड़े पैमाने पर उपयोग में आती थी।

सुप्पारक जातक[3] एवं विनय पिटक[4] से स्पष्ट है कि दक्षिणी में सागर एवं उसके तटवर्ती देशें में समुद्री व्यापारी हीरे, सोना, चाँदी, नील–मणि, विल्लौर, मोती, शंख, शिला, लोहितांक, (रक्तवर्णमणि), मणि, मसाणगल्ल (एक मणि) की खोज में जाते थे।

बावेरु जातक से स्पष्ट है कि भारतीय मोर आदि पक्षियों का पश्चिमी देशों को निर्यात कर काफी मुनाफा कमाते थे।[5]

चन्दन, सुगन्धि एवं पुष्पमालाओं की भी पूजा एवं प्रसाधान हेतु बड़ी माँग थी। सौन्दर्य बर्धन हेतु चन्दन लेप का अनेकत्र उल्लेख आया। काशी का चन्दन विशेष प्रसिद्ध था।

शराब का व्यापार भी होता था। वारणी जातक से ज्ञात होता है कि अनाथपिण्डिक का एक मित्र शराब का व्यापार करता था। वह अपने शागिर्द की मदद से, तेज शराब बनाकर लोगों से हिरण्य, सोना आदि लेकर उसे वेचता था। उसकी शराब की दुकान के पास बहुत से ग्राहक

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६/५/३

२. सूची जातक

३. सुप्पारक जातक

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/१/२;

५. बावेरु जातक

इकठ्ठे हो गये थे।[1] शराब के व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण भी करते थे। दो शराब विक्रताओं ने वाराणसी, वाराणसी से साकेत से श्रावस्ती जाकर मदिरा बेची।[2]

मिट्टी के पात्रों का तत्कालीन सभाज में एक बडा बाजार था।[3] मिट्टी के वर्तनों के अलावा इसके खिलौनों की भी लोकप्रियता थी। उत्तरापथ के घोड़े श्रेष्ठ नस्ल के होते थे अतः राजा महाराजाओं (धनाढ्य) वर्ग इनका ग्राहक था।

समाज में लोग मांसाहार के शौकीन थे पशु—पक्षियों का मॉस बड़े पैमाने में विक्री के लिए बाजार पहुँचता था। मंस जातक से ज्ञात होता है कि शिकारी, गाड़ी में बहुत सा मॉस लिये वेचने जा रहा था।[4] जगह—जगह मॉस की दुकानें लगी होती थी। भेड, सुअर, मछली, बकरी, भैंस आदि मारने वाले इन पशुओं का वध करके, इनका मॉस दुकान पर सजा कर बेचते थे।[5]

विनिमय के साधनः-

प्राचीन भारत में भी विनिमय का साधन एक—समान नहीं था। वल्कि एक ही समय में विनिमय का साधन विभिन्न समुदाय और क्षेत्रों में भिन्न—भिन्न था। प्राचीन काल में विनिमय की दो प्रणालियॉ विकसित हुई थी। (१) वस्तु विनिमय प्रणाली (२) क्रय—विक्रय प्रणाली।

आरम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित थी जिनकी पूर्ति वह स्वयं करता था। सभ्यता के विकास के साथ—साथ उसकी आवश्यकताऐं भी बढ़ी और उनमें सबकी पूर्ति स्वयं करना उसके लिए असम्भव हो गया। इसलिए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उसे दूसरे लोगों पर निर्भर होना पड़ा। वह अपने द्वारा उत्पादित वस्तु दूसरों को देकर उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तुऐं प्राप्त करने लगा। यह विनिमय का पहला रूप था जिसे वस्तु—विनिमय प्रथा कहा गया।

---

१. वारणी जातक;

२. कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२;

३. तृतीय अध्याय में 'मृण्भाण्ड कला' शीर्षक में यह बात स्पष्ट है।

४. मंस जातक;

५. निमि जातक;

अर्थतंत्र के विकास के साथ–साथ वस्तु–विनिमय प्रणाली में अनेक कठिनाइयॉ उत्पन्न हो जाती है।[1] उत्पादक किसी एक सीमित वाजार के लिए वस्तु–उत्पादन न करके सम्पूर्ण देश एवं विदेशों के लिए भी वस्तुऐं उत्पादित करता है। ऐसी अर्थ–व्यवस्था में वस्तु–विनिमय कठिन हो जाता है और विकास कार्य में वाधा आने लगती है। वस्तु विनिमय प्रणाली में बहुत समय भी नष्ट होता है। उदाहरण के लिए एक जुलाहे को एक जोड़ी जूते की आवश्यकता है। जब जुलाहे को ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसको कपडे की आवश्यकता है और विनिमय में उसके पास देने के लिए जूते भी हो। हो सकता है कि जूते बनाने वाले को कपड़े की नहीं परन्तु गेहूॅ की आवश्यकता हो, यह कार्य और भी कठिन तब हो जाता है जब जुलाहे को एक नही दस–पॉच वस्तुओं की आवश्यकता है। वस्तु–विनिमय के कार्य में एक और कठिनता है कुछ वस्तुऍ ऐसी है जिनकी इकाई बड़ी होती है और उनके छोटे–छोटे टुकड़े नहीं किये जा सकते। जैसे किसी बढ़ई ने मेज बनाई हो और उसको आटा,कपडा, जूते की आवश्यकता हो। बढई को इस सम्बन्ध में तीन व्यक्तियों से सम्पक्र करना पड़ेगा। परन्तु वह मेज का विनिमय आटा, कपड़ा, जूते के मालिकों से किस प्रकार करेगा? मेज के टुकड़े–टुकड़े करने पर तो मेज की उपयोगिता ही समाप्त हो जायेगी।

इसके अतिरिक्त इस प्रथा में उधार का लेन–देन सम्भव नहीं होगा और मूल्य संचय की असुविधा होती हे। इन्हीं सब असुविधाओं के कारण आर्थिक विकास के साथ वस्तु–विनिमय के साथ–साथ कोई विशेष माध्यम समाज में स्वीकार किया जाता है जिसके द्वारा लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का लेन–देन करते हैं। इसी माध्यम के द्वारा वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता है, इसी को क्रय–विक्रय प्रणाली कहते है।

१.मंजू अग्रवाल, शोध प्रबन्ध, पृष्ठ ८१;

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है कि बुद्ध–काल में यद्यपि वस्तु–विनिमय के द्वारा अदला–बदली का रिवाज था तथापि साधारणतः समाज में सिक्कों का प्रचलन था। सर्वाधिक प्रचलित सिक्का कार्षापण था। कहापण (कार्षापण) बुद्ध–काल का एक अति प्रचलित सिक्का था और जिस प्रकार आज हम साधारणतः धन के लिए पैसे शब्द का प्रयोग कर देते हैं, उसी प्रकार बुद्ध–काल में लोग कहापण का प्रयोग करते थे।[1] विभिन्न बौद्ध–ग्रन्थों एवं जातक कथाओं में कार्षापण के बहुसंख्यक प्रसंग आयें है।

वावेरु जातक में व्यापारियों ने सौ कार्षापण लेकर कौआ एवं एक हजार कार्षापण लेकर वहाँ के निवासियों को मोर बेचा था।[2] चुल्लसेट्ठि जातक से स्पष्ट है कि चुल्लअन्तेवासिक ने सोलह कार्षापण में राजकीय कुम्हार के पास लकड़ी वेची थी।[3]

स्वर्ण मुद्रायें भी बुद्ध–काल में प्रचलित थी। मुद्रायें हिरण्य, निष्क नामों द्वारा जानी जाती थी। विनयपिटक में श्रावस्ती के धनाढ्य श्रेष्ठि अनाथपिण्डिक हिरण्य से धरती को ढक कर जेतवन का क्रय करते हैं।[4] कुहक जातक में उल्लेख आया है कि एक दुष्ट तपस्वी ने गृहस्थ के सोने के सौ सिक्के चुरा लिये थे। जुण्ह कुमार ने एक ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु को प्रायश्चित स्वरूप हजार से अधिक सुवर्ण–निष्क दिये। पेतवत्थु में एकदम स्पष्ट रूप से कहा गया है "वहाँ प्रेतलोक में कृषि नही है और न गो–रक्षा (पशुपालन) वहॉ है। न यहाँ का सा वाणिज्य–व्यापार है और न हिरण्य के द्वारा क्रय–विक्रय।"[5]

---

१. भरतसिह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ ५४८;

२ वावेरु जातक,

३. चुल्लसेट्ठि जातक,

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६/३/१;
अनाथपिडिकों गहपति सकटेहिहिरञ्ञं
निब्बाहणेत्वा जेतवनं कोटिसथारं संथरापेति।

५. न हि तत्थ कसी अत्थि गोरक्ख एत्त न विज्जति
वणिज्जा तादिसी नत्थि हिरण्णेन कयक्कयं
पेतवत्थु, खु० नि० खण्ड २, १.५.१६

काशी का बहुमूल्य वस्त्र एक लाख कार्षापण का था। आचार्य बुद्धघोष ने कार्षापण को चॉदी का सिक्का माना है। पुरातात्विक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि छठी शदी ई० पू० में भारत में आहत सिक्के प्रचलित थे जो चॉदी एवं ताँबे के थे। किन्तु चाँदी के सिक्के ही अधिक संख्या में पाये गयें हैं। सम्भव है कि कहापण चॉदी के साथ–साथ तॉबे के भी बनते थे। इन आहत सिक्कों पर अंकित चिन्हों से तत्कालिन आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। मत्स्य–सरित, शंख–चिन्ह अंकित मुद्राऐं सामुद्रिक व्यापार की ओर संकेत करती है। इन मुद्राओं में समाजोपयोगी पशुओं वृषभ, अश्व, हाथी, ऊँट, वकरा, कुत्ता आदि का भी चित्रण मिलता है। यद्यपि सबसे अधिक अंकन सूर्य का हुआ है जो धार्मिक विश्वासों एवं प्रकृति से सम्बन्ध को प्रगट करता है।

साहित्य में कार्षापण के अतिरिक्त अर्द्धकार्षापण,[१] पाद कार्षापण,[२] मासक, अर्द्धमासक[३] काकणिका[४] का भी उल्लेख आया है। काकणिका सम्भवतः उस समय का सबसे छोटा सिक्का था। चुल्लसेट्ठि जातक में एक मृत चूहे का मूल्य एक काकणी बताया गया है।

आर्थिक संगठन-

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में प्रथम बार शिल्प–उद्योगों तथा व्यापार–वाणिज्य के क्षेत्र में संगठन, सहकारिता एवं सहयोग की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। ऐसे व्यवसायिक संगठनों को श्रेणी या पूग की संज्ञा से अभिहित किया गया है। पूग शब्द का प्रयोग किंचित् रूप से ही किया गया है, श्रेणी शब्द ही अधिक प्रचलित था। एक जातक कथा में अठारह प्रकार के शिल्पकारों के संघ का उल्लेख मिलता है।[५] किन्तु इन सब का नामोल्लेख यहाँ नहीं

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग १२/१/१

२. वही;

३. सेरिवणिज जातक, संख्या

४. चुल्लसेट्ठि जातक

हुआ है, केवल चार श्रेणियों का स्पष्टतः वर्णन है—(१) बढ़ई की श्रेणि (२) धातुकारों की श्रेणि (३) चर्मकारों की श्रेणि (४) चित्रकारों की श्रेणि। इससे स्पष्ट है कि बढ़ई, धातुकार, चर्मकार एवं चित्रकार, इन चार प्रकार के कारीगरों की संघ या श्रेणियाँ निश्चित रूप से सुस्थापित था। टी. डब्लू० राइस् डेविड्स बुद्ध—काल में निम्नलिखित अठारह प्रकार की श्रेणियों का अनुमान करते हैं[1]।

१. बढई की श्रेणी
२. धातु का काम करने वालों की श्रेणी
३. पत्थर का काम करने वाली की श्रेणी
४. जुलाहे की श्रेणी
५. चर्मकारों की श्रेणी
६. कुम्हारों की श्रेणी
७. हाथीदाँत का काम करने वालों की श्रेणी
८. रंगरेज की श्रेणी
९. सुनारों की श्रेणी
१०. मछुआरों की श्रेणी
११. कसाइयों की श्रेणी
१२. शिकारियों की श्रेणी
१३. रसोइयों एवं हलवाइयों की श्रेणी
१४. नाई तथा चम्पी करने वालों की श्रेणी
१५. माला बनाने एवं फूल बेचने वालों की श्रेणी
१६. मल्लाहों की श्रेणी
१७. नलकारों की श्रेणी
१८. रंगकर्मियों की श्रेणी।

परन्तु इस काल में केवल उपरोक्त अठ्ठारह प्रकार की शिल्पकारियाँ प्रचलित नहीं थी। विधुर जातक में माली, धोबी, गान्धी, कपड़े बेचेने वाले, स्वर्णकार, मनियारे, रसोइये, नट, नर्तक, गायक, ताली बजाकर गाने वाले, घड़े वजाने वाले, कूदनेवाले, पहलवान, जादूगर, नगर की शोभा रूप, वैतालिक, नाई आदि व्यवसाइयों का उल्लेख मिलता है।[2] दीघ—निकाय में हमें

---

१. टी० डब्लू० राइस डेविड्स, बौद्ध भारत, हि० अनु० ध्रुवनाथ चतुर्वेदी, पृष्ठ ६३;

२. विधुर जातक; जातक संख्या ५४५;

अनेकत्र विभिन्न व्यवसाइयों की सूची दिखाई पड़ती है। एक स्थान पर विविध शिल्पों की गणना की गई है।[1] मगधराज अजातशत्रु भगवान बुद्ध से पूछते हैं 'भन्ते। यह भिन्न–भिन्न शिल्प–स्थान (विद्या; कला) है:–

१. हस्ति आरोहरण (=हाथी की सवारी)	२. अश्वारोहण,
३. रथिक	४. धनुर्ग्राह
५. चेलक (=युद्धध्वज–धारण)	६. चलक (=व्यूह रचना)
७. पिंडदायिक (=पिंड बॉटनेवाला)	८. उग्र राजपुत्र (=वीर राजपुत्र)
९. महानाग (=हाथी से युद्ध करने वाले)	१०. चर्म (=ढाल)–योधी
११. दासपुत्र	१२. आलारिक (बावर्ची)
१३. कल्पक (=हजाम)	१४. नहापक (=नहलानेवाले)
१५. सूद (=वाचक)	१६. मालाकार
१७. रजक	१८. पेशकार (रंगरेज)
१९. नलकार	२०. कुंभकार
२१. गणक	२२. मुद्रिक (=हाथ से गिननेवाले)

इन व्यवसायियों की गणना के बाद अजातशत्रु कहता है "और जो दूसरे भी इस प्रकार के भिन्न–भिन्न शिल्प हैं;" उपरोक्त संवाद स्पष्ट करता है कि प्रचलित शिल्पों की संख्या बहुत अधिक थी। हो सकता है इनके भी संघ रहे हो परन्तु इसके विषय कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

---

१. दीघ–निकाय, सामञ्ञफल सुत्त १/२;

एक व्यवसाय का अनुसरण करने वाले एक स्थान पर रहने लगे। बुद्ध कालीन भारत में विभिन्न उद्योगों का स्थानीयकरण लक्षित होता है। वाराणसी के पास हजार परिवारों वाला बढइयों का ग्राम था।[1] वाराणसी के ही समीप एक अन्य पाँच सौ बढ़इयों वाला बढई–ग्राम था।[2] इसी प्रकार अन्यत्र भी बढ़ई ग्राम का उल्लेख मिलता है।[3] सूची जातक में हजार–घर वाला लोहारों का गाँव उल्लिखित है।[4] काशी के द्वार पर एक कुम्भकार ग्राम था।[5] श्रावस्ती के समीप एक नलकार ग्राम था।[6] नदी के दोनों तटों पर पाँच–पॉच सौ कुलों का निषाद–ग्राम था।[7] चोर डाकुओं की भी अपनी वस्ती होती थी।[8]

ग्रामों के अतिरिक्त एक प्रकार का व्यवसाय करने वालों का निवास कभी–कभी पूरी गली में रहता था। दन्तकार–गली में हाथीदाँत की वस्तुएं बनायी एवं वेची जाती थी।[9] श्रावस्ती में कमल–गली थी जहाँ पुष्प एवं मालायें बिकते थे।[10] घ्रत जातक में धोबी–गली का प्रसंग आया है।[11] विभिन्न व्यवसायियों के स्थानीयकरण से इन उद्योगों के संगठन में सहायता मिली होगी।

विविध व्यवसायी वंशक्रमानुगम व्यवसाय में लगे थे। इससे उन्हें अपने कार्य में प्रवीणता तो हासिल हुई एवं एक श्रेणी के वे स्वतः वंशानुक्रम में सदस्य बने रहे। एक ही व्यवसाय के अपनाने के कारण परिवार को उसी व्यवसाय जैसे लोहर–कुल, कुम्भकार कुल, सार्थवाह कुल, नाविक कुल,[12] आदि के नाम से जाना जाता था।

---

१. समुद्दवाणिज जातक, संख्या ४६६;
२. अलीनचित्त जातक, संख्या १५६;
३. फन्दक जातक, संख्या ४०८; तच्छ सूकर जातक, संख्या ५४६;
४. सूची जातक;
५. जातक संख्या ४०८;
६. मज्झिम निकाय, हि० अ० पृष्ठ ४१६;
७. सामजातक, संख्या ५४०;
८. सतिगुम्ब जातक, संख्या ५०३;
६. जातक संख्या २२१;
१०. पदुम जातक, जातक संख्या २६१;
११. घ्रत जातक;
१२. सुप्पारक जातक, संख्या ४६३;

प्रत्येक श्रेणी संगठन का एक प्रधान होता था जिसे जेट्ठक या प्रमुख कहा जाता था। प्रमुख शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही हुआ है। हजार घर वाले लोहार–गाँव में एक प्रधान था।[१] हजार बढई वाले वड्ढकिगाम में पॉच–पाँच सौ बढ़ठयों के ऊपर एक जेट्ठक था।[२] भरुकच्छ नामक पत्तन ग्राम में वेधिसत्व ज्येष्ठ–नाविक के पुत्र होकर पैदा हुए।[३]

इसी प्रकार कम्मार–जेट्ठक, मालाकार–जेट्ठक, सार्थवाह–जेट्ठक का उल्लेख मिलता है। यहॉ तक कि चोर–डाकू भी संगठित समूह में रहने लगे थे। इनके भी 'जेट्ठक' होते थे। सतपत्त जातक में वर्णित है कि वोधिसत्व पाँच सौ चोरों के सरदार बन, वटमारी तथा सेंध लगाते हुए जीविका चलाई।

शिल्पियों के अलावा व्यापारियों की भी श्रेणियाँ होती थी। जिनके प्रधान धनशाली सेठ होते थे उनके पास अकूत सम्पदा होती थी एवं वे ऐश्वर्यमय जीवन व्यतीत करते थे।

राजदरबार में इन श्रेष्ठियों का बड़ा सम्मान था। राजाओं से उनके मित्रवत् सम्बन्ध होते थे तथा उनके यहाँ उनका आमन्त्रण निमंत्रण होता था। श्रावस्ती का श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक, जो राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था, किसी काम से राजगृह गया। उस समय राजगृह के श्रेष्ठी ने संघ–सहित बुद्ध को दूसरे दिन के लिए निमंत्रण दे रखा था। इसलिए वह इस निमंत्रण की तैयारी में व्यस्त था। तब अनाथपिण्डिक गृहपति ने सोचा "पहिले मेरे आने पर यह गृह–पति सब काम छोड़कर मेरे ही आव–भगत में लगा रहता था आज विक्षिप्त सा दासों एवं कमकरों को आज्ञा दे रहा है (महाभोज की तैयारी हेतु) – – – क्या इस गृहपति के (यहाँ) – – – लोग बाग सहित मगध–राज श्रेणिक बिम्बसार कल के लिए निमंत्रित किये गये हैं?[४] वाराणसी के श्रेष्ठी का पुत्र 'महाधनकुमार' एवं वाराणसी नरेश का पुत्र दोनों लंगोटिया यार थे।[५] श्रेष्ठी राज्य पूजित एवं नगर पूजित होते थे।[६]

---

१. सूची जातक,

२. समुद्दवाणिज जातक, जातक संख्या ४६६

३. सुप्पारक जातक, संख्या ४६३;

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६/३/१

५. अट्ठान जातक, जातक संख्या ४२५;

६. सुधाभोजन जातक, जातक संख्या ५३५;

श्रेष्ठी का पद प्रायः पैतृक होता था।[1] श्रेष्ठि-परिवार में उत्पन्न बोधिसत्व, वयस्क होने पर श्रेष्ठी का पद पाकर चुल्लसेठी नाम से प्रसिद्ध हुए।[2] परन्तु अन्य व्यक्ति भी श्रेष्ठी का पद पा सकते थे। कुण्डकपूर्व जातक में राजा प्रसन्न होकर एक दरिद्र व्यक्ति को श्रेष्ठी का पद देते हैं।[3] सामान्य तौर पर धनाढ्य व्यक्ति को ही श्रेष्ठी पद दिया जाता था।[4] श्रेणी-प्रमुखों को राज्य की प्रशासन व्यवस्था से सम्बद्ध किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। वाराणसी का श्रेष्ठी तीन वार राजा की सेवा में जाता था।[5] राजकीय सेवा में नियुक्त 'उच्च पदाधिकारियों में उसकी भी गणना होती थी[6] एवं अन्य राजदरबारियों के साथ वह भी राजदरबार में पीठासीन होता था।[7] उरग जातक में कोशल राजा के दो श्रेष्ठी, राजसेवक एवं महामात्य के पद पर नियुक्त थे[8] निग्रोध जातक में पोत्तिक नामक जेट्ठक को मगध के राजा ने भांडागारिक नियुक्त किया तथा अन्य व्यापारिक/व्यवसायिक श्रेणियों (की गतिविधियों पर नजर रखने) का भी दायित्व सौंपा था। श्रेष्ठी के नीचे 'अनु-श्रेष्ठी' का पद होता था।[9]

प्रतीत होता श्रेणी-मुख्यों को कुछ न्यायायिक अधिकार भी प्राप्त थे। एक स्थल पर श्रेणी-प्रमुख द्वारा एक मछुआरे की पत्नी को शारीरिक एवं अर्थदण्ड देने का विवरण है।[10] समाज एवं प्रशासन में श्रेणी का महत्व संघादिसेस के उस नियम से स्पष्ट होता है जिसमें चोरी आदि अपराध की हुई भिक्षुणी यदि सन्यास लेने की इच्छुक हो तो उसे राजा, संघ, गण, पूग के साथ-साथ श्रेणी को भी सूचित करना होता है।[11] बड़े-बड़े श्रेष्ठी छोटे व्यापारियों को कारोबार के लिए भी प्रोत्साहित करते थे। श्रावस्ती के व्यापारी अनाथपिण्डिक ने व्यापारियों से हाथ की लिखित लेकर, अट्ठारह करोड़ धन ऋण दिया था तथा महासेट्ठी इस धन की वापसी के लिए उनसे तगादा नही करता था।[12]

---

१. वही;
सुधाभोजन जातक, जातक सख्या ५३५,
२. चुल्लसेट्ठि जातक
३. कुण्डकपूर्व जातक, जातक संख्या १०६;
४. सुधाभोजन जातक, जातक संख्या ५३५;
५. जातक संख्या ४२५;
६. कुरुधम्म जातक, जातक संख्या २७६; जातक सख्या ५३६;
७. महाजनक जातक, जातक संख्या ५३६;
८. उरग जातक, संख्या १५४;
९. विनयपिटक, हि० अ० पृ० ८८;
१०. उभतोभट्ठ जातक, संख्या १३१;
११. विनयपिटक, भिक्खुनी-पातिमोक्ख, २/२, हि० अ० पृष्ठ ४४;
१२. खादिरंगार जातक, संख्या ४०;

अध्याय-६

खान-पान, वस्त्राभूषण एवं मनोरंजन के साधन

खान-पान, वस्त्राभूषण एवं मनोरंजन के साधन

खान-पान

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से बुद्धयुगीन समाज में प्रचलित भोज्य प्रदार्थों की अच्छी जानकारी मिलती है। इस विषय में विनयपिटक एवं सुत्तपिटक के विभिन्न भागों में जातक ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी है। लोग शाकाहार के साथ–साथ मांसाहार के भी पर्याप्त शौकीन थे। साथ में विभिन्न पेय पदार्थो का भी प्रयोग किया जाता था।

शाकाहारी भोज्य पदार्थ-

बौद्ध साहित्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अन्नों में सर्वप्रमुख फसल धान थी। इसकी अनेकानेक किस्मों शालि[1], व्रीहि[2], तण्डुल[3], नीवार[4], साँवां[5], टागुन[6] तथा कोदो[7] आदि का उल्लेख मिलता है।

---

१. महावेस्सन्तर जातक; दीर्घ–निकाय, पृ० २७५, पृ० २४३; २३७; मूगपक्ख जातक, जातक, संख्या ५३८

२. मज्झिम–निकाय, हि०अ०प्र० ३७

३. विनय पिटक, ६/६/४

४. दीर्घ–निकाय, १/८; मज्झिम निकाय, हि०अ० पृ० ६२

५. सुत्त–निपात, हि०अ० पृ० ६६

६. सुत्त–निपात, हि०अ०पृ० ६६

७. मज्झिम–निकाय, हि०अ०पृ० ५०; दीर्घ–निकाय, हि०अ०पृ० २३७

जिनमे शालि को सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। सुगन्धित एवं स्वाष्टि शालि भात विभिन्न प्रकार के व्यंजनों विशेषकर मांस के साथ देना एक उत्तम भोज्य था।[1] कंजूस विलारि कोसिय सेठ ने ब्राह्मणो को वैलो के लिए पका भात भोजन मे दिलवाया। ब्राह्मणों के गले में भात अटक जाने पर भिक्षुक विहोश हो गये तब सेठ ने अपनी मर्यादा बचाने के लिए, उन ब्राह्मणों को मृत जान उनके पात्रों में नाना प्रकार के रसों के साथ शालि भात परोसा[2]। शालि–भात घृत मिश्रित होने पर और भी स्वादिष्ट हो जाता था। स्थविरी को उदर पीड़ा होने पर स्थविर कोशल–नरेश के यहाँ से रोहित मछली का सूप एवं नवीन घृत–मिश्रित शालि भात लाये।[3] दीर्घ–निकाय के चक्कवत्ति–सीहनाद–सुत्त में कहा गया है कि यदि पापकर्मो में इसी प्रकार वृद्धि होती गयी तो उस समय मनु यों का कोदो (= कुदूस) ही श्रेष्ठ (अग्र) भोजन होगा **जैसा कि इस समय शालिमासौदन प्रधान भोजन है।**[4] अच्छे धान की विशिष्टता होती थी कि वह कण एवं तुष से रहित हो तथा सुगन्धयुक्त हो।[5]

---

१. दीर्घ–निकाय, हि०अ०पृ० ४१; महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

२. विलारि कोसिय जातक, संख्या ४५०

३. सुफ्त जातक, २६२;

४. दीघ निकाय ३/३ हि अ० पृष्ठ २३७

५. दीघनिकाय, अञ्अज सुत्त ३/४

तंडुल चावल की बहुप्रचलित किस्म थी। बौद्ध ग्रन्थों[1] विशेषकर विनयपिटक[2] में इसका बहुत उल्लेख आया है। दुर्भिक्ष के समय भिक्षुओं को विभिन्न खाद्य सामाग्री के साथ तंडुल को आराम में रखने एवं हाथ से पकाने की अनुमति थी। ग्रामवासी बहुत सा नमक, तेल, तंडुल आदि सामान गाड़ियो में रखकर बौद्धसंघ को भोजन देने के लिए अपनी बारी का इन्तजार करते थे।[3] मेंडक गृहपति ने तंडुल से ही उत्तम खाद्य–भोज्य तैयार करवाकर, साढ़े बारह सौ भिक्षुओं को गर्मधार दूध के साथ भोजन करवाया था।[4] नीवार[5], सावां[6], टागुन[7], कोदो[8] अपेक्षाकृत निम्नकोटि के चावल माने जाते थे।

चावल से साधारण रूप से तैयार होने वाले भात के अतिरिक्त अन्य भी विविध प्रकार के व्यंजन बनाये जाते थे जिनमें 'यवागु' का विशिष्ट स्थान था। चावल में अधिक पानी मिलाकर सम्भवतः खिचडी या दलिया रूप में यवागु निर्मित किया जाता था।

१– मज्झिम निकाय, हि० अ० पृ० ३७; विनय पिटक, महावग्ग, ६/६/६

२– विनयपिटक, महावग्ग, ६/३/१०

३– विनयपिटक, महावग्ग, ६/५/२

४– विनयपिटक, हि०अ० ६/६/३

५– महावेस्सन्तर जातक, दीघ–निकाय, कस्सप–सीहनादसुत्त १/८

६– दीघ–निकाय, १/८

७– सुत्त–निपात, २/२

८– मज्झिम–निकाय, हि०अ०पृ० ५०

भोजन के रूप में यवागु तो ग्रहण ही किया जाता था प्रायः प्रातःकाल के जलपान में भी इसका प्रयोग होता था। अनाथपिण्डिक प्रातः काल जेतवन विहार में भिक्षुओं के लिए यवागु ले जाता था।[१] इन्द्रिय जातक[२] में एक कथा आयी है कि एक प्रव्रजित अच्छा भोजन न पाने पर अपनी पूर्व–भार्या के पास चला जाता है जहॉ वो भिक्षुक का स्वागत यवागु, भात और सूप, व्यन्जन से करती है। विनयपिटक के महावग्ग में भगवान बुद्ध यवागु के दस गुणों का उल्लेख करते हैं[३]

१– यवागु देने वाला आयु का दाता होता है;

२– वर्ण (= रूप) का दाता होता है;

३– सुख का दाता होता है;

४– बल का दाता होता है;

५– प्रतिभा का दाता होता है।

६– पीने पर क्षुधा को दूर करता है।

७– प्यास को दूर करता है।

८– वायु को अनुकूल करता है।

६– पेट को साफ करता है।

१०– न पचे को पचाता है।

१– खदिरंगार जातक, जातक संख्या ४०;

२– इन्द्रिय जातक, जातक संख्या ४२३;

३– विनयपिटक, महावग्ग, ६/४/३

ब्राह्मण! खिचडी के ये दस गुण हैं।''

भलीभॉति पके हुए (गाढे दूध) दूध में थोड़ा सा चावल डालकर खीर(पायस) बनाया जाता था जो एक खर्चीला व्यंजन था। खीर में घी, मधुर शक्कर एवं कभी–कभी मधु का मिश्रण भी किया जाता था। एक दरिद्र कन्या के पिता को रक्तातिसार हो गया था। बिना पानी के दूध–घी–मधु तथा शक्कर से बनी खीर उसकी दवाई थी। परन्तु दरिद्रता के कारण वे उसे प्राप्त नहीं कर पा रहे थे।[१] सुजाता ने भगवान बुद्ध को दिव्य खीर का पान कराया था। दीघ–निकाय में कन एवं भूसी से रहित शुद्ध सुगन्धित चावल को दूध में पकाने का उल्लेख उत्तम भोज्य पदार्थ के रुप में है।[२] कसिभारद्वाज ने भगवान बुद्ध को कासें की बड़ी थाल में खीर परोसी थी।[३]

चावल के पुए (पूड़े) भी बनाये जाते थे।[४] जो स्वाद में मीठे होते थे। राजगृह के अति कंजूस श्रेष्ठी को, मार्ग में कुलथी भरे पूड़े खाते एक नागरिक को देख उसे भी, पुड़े खाने की इच्छा हुई। परन्तु इस डर से कही नौकर–चाकर पत्नी–बच्चों आदि घरवाले भी पुड़े खायेंगे अपनी पत्नी को ले सात मंजिले प्रसाद में ऊपर महातल्ले पर पुआ पकवाने के लिए गया। पुआ को मीठी पूड़ी की भांति कड़ाई में छानकर बनाया जाता था तथा इसकी पिष्टी कनखी चावल, थोड़ा दूध, घी, मधु, गुड़ को सान कर बनायी जाती थी।[५] पुआ बच्चों का लोकप्रिय खाद्य था।[६]

---

१. सन्थव जातक, जातक संख्या १६२; जातक प्रथम, हि०अ०, पृ० १३१

२. दीघ–निकाय, हि०अ०, २७६

३. सुत्त–निपात, कसिभारद्वाज सुत्त, १/४

४. विनयपिटक, हि०अ०, पृ० २५, बब्बु जातक, जातक स० १३७;

५. इल्लीस जातक, जातक संख्या ७८;

६. मूगपक्ख जातक, जातक संख्या ५३८;

चावल से एक अन्य पदार्थ (खाजा) भी बनाया जाता था।[1] कुराडकपूव जातक में एक दरिद्र मनुष्य द्वारा शास्ता के लिए खाजा बनाने का वर्णन है।[2]

चावल के अतिरिक्त अन्य अन्नों का भी विभिन्न पदार्थ बनाया जाता था। जौ एवं गेहूँ को पीसकर आटा बनाया जाता था एवं उसकी रोटी बनायी जाती थी।[3] जौ का भात भी गरीब लोग खाते थे।[4] विभिन्न अन्नों को पीसकर बनाये जाने वाले सत्तु की चर्चा भी साहित्य में अनेक स्थानों पर आती है। सत्तू के लिए कहा गया है कि यह सात प्रकार के अन्नों को पीसकर बनाया जाता था।[5] सत्तु के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि प्रायः पाथेय (मार्ग के भोजन) के रूप में इसका प्रयोग प्रचलित था। एक ब्राह्मण भिक्षाटन द्वारा धन इकट्ठा करने हेतु जब घर से निकलता हैं तो ब्राह्मणी चमडे की थैली में उसे मार्ग में भोजन हेतु सत्तु देती है।[6]

१– कुण्डककुच्छि सिन्धव जातक, जातक सख्या २५४, कलजातक, जातक संख्या. ५४, ब्रहाछत्त जातक, जातक संख्या ३३६;

२– कुराडकपूव जातक, जातक संख्या १०६

३– प्रभा त्रिपाठी, प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ० २१७

४– महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६;

५– प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ० २१८

६– सत्तुभस्त जातक, जातक संख्या ४०२

सुदरुथ स्थान पर हाथी–दांत के लिए हाथी के शिकार पर जाने वाले शिकारी के लिए रानी सत्तु आदि भोजन का प्रबन्ध करती थी।[1] महावेस्सान्तर जातक में मधु–मिश्रित सत्तु को स्वादिष्ट भोजन कहा गया है।[2] सत्तु आजकल के फास्ट–फूड (शीघ्र तैयार होने वाला भोज्य) के समान था जिसे बिना किसी कठिनाई के मार्ग आदि में मीठा (एवं सम्भवतः नमक के साथ भी) मिश्रित कर खाया जाता था।

मीठे भोज्य पदार्थ

मीठे भोज्य पदार्थों में लड्डू, गुड़, शहद, शक्कर, खाड़ आदि का उल्लेख मिलता है। लड्डू के लिए मधुपिन्ड[3], मधुगोलक[4] एवं मोदक[5] शब्दों का प्रयोग मिलता है। तपस्सु एवं भल्लिक नामक दो बनजारे उत्कल देश से उरुबेला पहुँचे जहाँ उन्होंने सप्ताह भर पूर्व बुद्धपद को प्राप्त भगवान बुद्ध को लड्डू (मधुपिंड) एवं मट्ठे (मन्थ) से स्वागत किया। यही तपस्सु एवं भल्लिक संसार में बुद्ध एवं धर्म के प्रथम उपासक हुए। कुल्माष के लड्डु भी बनाये जाते थे श्रावस्ती के एक माली के पुत्री ने शास्त्रा को कुल्माष के लड्डु भेंट किये थे।[6] महाउम्मग्ग जातक में तिल के लड्डुओं का उल्लेख आया है।[7] पिसे तिल एवं चावल से भी कोई मीठा भोज्य बनाता था जिसे सम्भवतः श्राद्ध आदि में चढ़ाया जाता था।[8]

---

१. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४

२. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७;

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/४, मज्झिम–निकाय, १/२/८

४. विनयपिटक, महावग्ग, ६/४/३

५. संयुत्त निकाय, १, पृ० १४८, अंगुत्तर–निकाय, १, पृ० १३०; ३, पृ० ७६

६. कुम्मासपिराड जातक, जातक संख्या ४१५

७. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६

८. कच्चानि जातक, जातक संख्या ४१७

गुड भोजन को मीठा बनाने वाले तत्वों में सर्वप्रमुख था।[1] विभिन्न व्यंजनों में इसका प्रयोग करके भोजन को मीठा एवं सुस्वादु बनाया जाता था।[2]

शहद का प्रयोग भी प्रचलित था।[3]

मिठाइयों में खाजा भी लोकप्रिय था। जिसका उल्लेख किया जा चुका है।

सब्जियाँ

पालि साहित्य से सब्जियों के विषय में भी कुछ सूचना प्राप्त होती है। लौकी[4], कद्दू[4], कटहल[5], साग[6], पेठा[7], लहसुन[8], भसील[9], कमलनाल[10] आदि प्रमुख तरकारियाँ थी साग को सादे आहार के रूप में ग्रहण किया जाता था।[11]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ६/४/५, महावग्ग ६/६/४, खदिरंगार जातक, जातक संख्या ४०, संयुक्त निकाय १/७/२/३

२. इल्लीस जातक

३. खदिरगार जातक, जातक संख्या ४०; वि०पि० महावग्ग, ६/३/११; महासीलव जातक, जातक संख्या ५१

४. पणिणाक जातक, जातक संख्या १०२, कुदाल जातक, जातक संख्या, ७०

५. अम्ब जातक, जातक संख्या १२४; महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

६. कुदाल जातक, जातक संख्या ७०

७. छद्दन्त जातक, जातक संख्या ५१४

८. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७, विनयपिटक हि०अ० पृ० ५२

९. विनयपिटक, महावग्ग, ६/३/११

१०. विनयपिटक, महावग्ग, ६/३/११

११. दीघ–निकाय, १/८, हि०अ० पृ० ६३, ६४

तेल तथा मसाले

तिल[1] तथा सरसों[2] से मुख्यतः तेल प्राप्त होता था। इनका स्थान–स्थान पर उल्लेख आया है। इसके अतिरिक्त अरण्डी[3] (रेडी) और अलसी[4] (तीसी) से भी तेल प्राप्त होता था।

भोजन तैयार करने हेतु विभिन्न प्रकार के मसालों का प्रयोग किया जाता था। विनयपिटक के महावग्ग मे विभिन्न प्रकार के नमक–सामुद्रिक नमक, काला नमक, सेंधा नमक, वानस्पतिक (नमक) बिलाल (एक प्रकार का नमक) का उल्लेख मिलता है।[5] अन्य मसालों में हींग[6], हल्दी।[7] हर्रा[8], बहेड़ा[9], पिप्पली[10], मिर्च[11], राई[12], अदरख[13], जीरा[14] आदि का भी उल्लेख मिलता है।

---

१. विनयपिटक, महावग्गा ६/३/११, सुत्त–निपात, ३/१०

२ विनयपिटक, चुल्लवग्गा, ६/२/१, हि०अ० पृ० ४५३, महावेस्सन्तर जातक,

३. जातक संख्या १०६

४. दीघ–निकाय, हि०अ० पृ० २६४, ३/७

५. विनयपिटक, महावग्गा, ६/१/८

६. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/७

७. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या

८. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६

६. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/६

१०. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/६

११. कुम्भजातक, जातक सख्या ५१२

१२. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

१३. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/३ हि०अ० पृ० २१६, लोल जातक, जातक संख्या २७४

१४. लोल जातक, जातक संख्या २७४

यूस अथवा जूस

दाल को जूस या यूस कहते थे। बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की दालों मूँग[1], मटर[2], उड़द[3], अरहर[4], कुल्थी[5], मसूर आदि के उल्लेख मिलते हैं। सम्पूर्ण भोजन का दाल एक आवश्यक अंग था। भात एवं यवामु के साथ प्रायः दाल (सूप) भी परोसा जाता था।

मज्झिम निकाय मे भगवान बुद्ध कहते है कि मैंने निराहार रहने का विचार त्याग कर यह सोचा कि– "क्यों न मै थोडा–थोड़ा आहार ग्रहण करुँ। पसर भर मूंग का जूस या कुलथी का जूस या मटर का जूस या अरहर का जूस।" कुल्थी के पुए भी बनाये जाते थे।[6] यह सम्भवतः आधुनिक कचौड़ी की भाँति होगा। स्पष्ट है कि पकी दाल हल्के आहार के रूप में भी ग्रहण की जाती थी। दाल को स्वादिष्ट बनाने के लिए दाल में आम की फारियाँ भी डाली जाती थी।[7]

गोरस

आहार में दूध एवं उससे बने विभिन्न पदार्थो का महत्वपूर्ण स्थान था। दूध, दही, तक्र (छाछ) नवनीत (मक्खन) एवं घी का बौद्ध साहित्य में स्थान–स्थान पर उल्लेख है जो इसके लोकप्रिय होने का प्रमाण है।[8] मेंडक गृहपति ने भगवान् बुद्ध सहित साढ़े बारह सौ भिक्षुओं को साढ़े बारह सौ गायों का धार–उष्ण दूध पिलाया था।[9] घी विभिन्न वस्तुओं को छानने–छौंकने

---

१. मज्झिम निकाय, १/१/१०, सुत्त–निपात ३/१०, विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/४

२. मज्झिम निकाय, २/४/५, सुत्त निकाय ३/१०, संयुत्त–निकाय १/६/१/१०

३. मज्झिम निकाय, १/१/१०, विनयपिटक ६/६/४

४. मज्झिम निकाय, २/४/५

५. मज्झिम निकाय, २/४/५,
महावेस्सन्तर जातक, इल्लीस जातक, जातक संख्या ७८;

६. इल्लीस जातक, संख्या ७८;

७. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/७

८. विनयपिटक , महावग्ग, ६/६/३, दीघ–निकाय, हि०अ० पृ० ३५०, संयुक्त–निकाय, हि०अ० पृ० ४४४

९. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/३

के अतिरिक्त भात आदि मे मिश्रित कर भोजन को सुस्वादु बनाने के काम आता था।[1] भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को उपर्युक्त पंच गोरसों का प्रयोग करने के अनुमति दी थी।[2] दूध से स्वादिष्ट खीर बनायी जाती थी।[3] गाय एवं भैंस के अतिरिक्त बकरी का दूध भी लोग पीते थे।[4]

फल

विभिन्न फलों का व्यवहार किया जाता था।

आम[5], जामुन[6], अंगूर[7], बेर[8], खजूर[9], ऑवला[10], केला[11], नारियल[12], कैथा[13], फाल्सा[14], नीबू[15], सिघाड़ा[16], बेल[17] आदि का प्रयोग किया जाता था।

---

१. इल्लीस जातक;

२. विनयपिटक, वही

३. जातक प्रथम, हि०अ० पृ० १३१;

४. धूमकरी जातक;

५. विनयपिटक, हि०अ० पृ० २५६, दीघ–निकाय, हि०अ० पृ० १५

६. अम्ब जातक, जातक संख्या १२४; महावेस्सन्तर जातक, संख्या ५४७;

७. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६, महावेस्सन्तर जातक, वालोदक जातक;

८. सुत्त–निपात, ३/१०;

६. महावेस्सन्तर जातक;

१०. सुत्त–निपात, ३/१०, कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२;

११. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६, सुयक्त निकाय, १/३/२, जातक संख्या ५१४;

१२. महावेस्सन्तर जातक;

१३. महावेस्सन्तर जातक;

१४. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६

१५. जातक संख्या ५१४,

१६. महावेस्सन्तर जातक

१७. सुत्त–निपात ३/१०

पेय पदार्थ

अन्न, मांस, सब्जी एवं फल के साथ–साथ प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में अनेक प्रकार के पेय पदार्थों की चर्चा भी आती है। ये पेय पदार्थ दो प्रकार के होते थे एक तो साधारण पेय पदार्थ– जिसके पीने से किसी प्रकार का नशा नहीं होता था। दूसरे प्रकार के पेय पदार्थ मादक पेय पदार्थ थे।

साधारण पेय पदार्थ

विनयपिटक के महावग्ग में विभिन्न प्रकार के पेय पदार्थो का प्रसंग आया है। भगवान बुद्ध जब आपण पहुँचे तो केणिय जटिल ने बहुत सा पान (पीने की चीज) तैयार करा बुद्ध–सहित संघ को अपने हाथ से पान करवाकर संतर्पित किया। इस संबंध में भगवान् ने भिक्षुओं को निम्नलिखित पेय पदार्थो की अनुमति दी– ''भिक्षुओं! अनुमति देता हूँ कि आठ पानों (पेय वस्तुओं) की–

१. आम्रपान

२. जम्बूपान

३. चोचपान

४. मोच (– केला) पान

५. मधु–मान

६. अंगूर का पान

७. सालूक (–कोई का जल)

८. फारुसक (– फाल्सा) पान

इसके बाद भिक्षुओं को अनाज के फल के रस को छोड़ सभी फलों के रस का पान की अनुमति दी गयी।[1]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ६/६/६

स्पष्ट है कि लोग विभिन्न फलों का शरवत बना कर पीते थे। इनमें सबसे अधिक प्रिय आम्र–रस[1] एवं अंगूर का रस[2] था। अब्भन्तर जातक में आम्र–रस निर्माण की पूरी प्रक्रिया दी गयी है। प्रव्रजित राहुल माता की उदर- वायु अशान्त होने पर राहुल को, अस्वस्थ्य भिक्षुणी को देने हेतु कोशल नरेश ने आमों का छिलका उतार कर उसमें शक्कर मिला अपने हाथों से भली भाँति मसलकर, पात्र भर कर दिया।

फलों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पत्तों एवं फूलों का रस भी पीया जाता था। भिक्षुओं के लिए ढाक के रस को छोड़ सभी पत्तों का रस, एक महुए के फल के रस को छोड़ सभी फूलों के रस एवं अख का रस पीने की अनुमति थी।[3] जातक कथाओं में तपस्वीयों एवं प्रव्रजितों के अत्यन्त साधारण भोजन के सम्बन्ध में बिना नमक के, बिना छौकें, केवल पानी में उबाले पत्तों का प्रेम पूर्वक खाने का प्रसंग आया है।[4] महाकपि जातक में खॉड़ के शरबत का उल्लेख आया है।[5]

मज्झिम निकाय में दही, मधु, घी, खॉड़ (काणिज) को एक में मिलकर अतिसार के रोगी को पीने को दिया गया है। महासुतसोम जातक चावल के द्वारा निर्मित वारुण नामक पेय का सौ से अधिक क्षत्रियों द्वारा पान करने का उल्लेख आया है।

---

१. अब्भन्तर जातक, जातक संख्या २८१

२. दालोदक जातक, जातक संख्या १८३

३. विनयपिटक, महावग्ग ६/६/६

४. केसव जातक, जातक संख्या ३४६, मूगपक्ख जातक, जातक संख्या ५३८, अकित्ति जातक, जातक संख्या ४८०

५. महाकपि जातक, जातक संख्या ४०७

मादक पेय पदार्थ

बौद्ध कालीन भारत में प्रचलित मद्यपान की लोकप्रियता पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त साक्ष्य मिलते है। सुरापान का अपना एक अलग उत्सव भी होता था जिसे सुरा–उत्सव कहा जाता था।[1] जिसमें पुरुषों के साथ–साथ स्त्रीयॉं एवं प्रव्रजित भी सुरा का आनन्द लेते थे। श्रावस्ती मे सुरा–उत्सव की घोषणा होने पर पॉंच सौ स्त्रियों ने तेज सुरा तैयार कर उत्सव मनाने का संकल्प किया।[2] इसी प्रकार वाराणसी के सुरा–उत्सव में 'प्रव्रजितों को शराब दुर्लभ होती है', ऐसा सोच कर उन्हें अत्युत्तम शराब उपलब्ध कराई गई।[3]

सुरापान उत्सव के अतिरिक्त अन्य त्यौहारों, उत्सवों एवं प्रसन्नता के विशेष अवसरों पर लोग मद्यपान करते थे। प्रवजित पुत्र वेस्सन्तर के वापस राजधानी आने के खुशी के मौके पर शिविनरेश ने आज्ञा दी कि 'जिन मार्ग से मेरा पुत्र आये उस मार्ग में गॉंव–गॉंव में सुरा तथा मेरय के सौ-सौ घडे रखे जाये।[4] देवेन्द्र शक से फुसती देवी ने वर मॉंगा– मैं वहॉं (सिविराज) जन्म लूॅं, जहॉं 'शराब पीओ, मांस खाओं'' कहकर आदमियें को प्रबोधित किया जाता हो।[5] मद्य के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख साहित्य में मिलता है जैसे सुरा[6], मेरथ[7], कबूतरी शराब[8], तुषोदक[9], वारुणी कच्ची शराब को मेरथ कहा जाता था, किन्तु अन्नों से बनने वाली हल्की शराब सुरा के नाम से प्रसिद्ध थी।

---

१. सिगाल जातक, जातक संख्या १४२

२. कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२

३. सुरापान जातक, जातक संख्या ८१

४. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

५. वही

६. विनयपिटक, हि०अ० पृ० २७, जातक संख्या ४५६

७. विनयपिटक, हि०अ० पृ० २७, जातक संख्या ४५४

८. सुरापान जातक, जातक संख्या ८१;

९. दीघ–निकाय, १/८ हि०अ० पृ० ६३

साहित्य मे आये मद्यपान के विभिन्न प्रसंगों के बावजूद इसे एक सात्विक कार्य के रूप मे नही देखा जाता था। भगवान बुद्ध ने विभिन्न स्थानों पर भिक्षुओं के लिए इसका निषेघ किया।[1] परन्तु दवा के रूप में तेलपाक में मद्य डाने की अनुमति दी थी। परन्तु जो तेल में अधिक मद्य डाले उसके लिए दण्ड की व्यवस्था थी। तेल में मद्य इस अनुपान में मिलाना चाहिए कि मद्य का रग, गन्ध और रस न जान पडे। अधिक मद्य डालकर पकाये हुए तेल से शरीर की मालिश की जा सकती थी।[2] वाराणसी के कुलीन तरूण को अपने मित्रों की संगति में सुरापान की लत पड़गयी थी। पिता के बार–बार आग्रह करने पर भी जब वह इसे छोड़ नहीं सका तब उसके पिता ने न्यायालय में जाकर 'अपुत्र' होने की घोषणा कर उसे देश निकलवा दिया। वह आगे चलकर निराधार हो, दरिद्र हो, चीथड़ पहन, हाथ में ठठा ले भीख मांगता हुआ, एक दीवार के पास पड़ा–पड़ा मर गया।[3]

इसी प्रकार मद्यपान से कई धनपति भी बर्बाद हो गये। अस्सी करोड़ धन वाले महाधनक नामक श्रेष्ठी ने शराब आदि नाना व्यसनों में अपन सब धन विनष्ट कर दिया।[4] अनाथपिण्डिक का भानजा माता–पिता से प्राप्त चालीस करोड़ धन सुरापान में नष्ट कर अन्त में स्वयं विनाश को प्राप्त हो गया।[5]

---

१. विनयपिटक, भिक्खु–पातिमोक्ख, हि०अ० पृ० २७, सुरापान जातक, पृ० ८१

२. विनयपिटक, महावग्ग, ६/२/१

३. महासुतसोम जातक, जातक संख्या ५३७

४. रूर जातक, जातक संख्या ४८२;

५. भद्रघट जातक, जातक संख्या २९१;

सुरापान के व्यसनी धन के न होने पर अनैतिक साधनों से अपनी इच्छा पूर्ति का प्रयत्न करते थे। शराबियों ने पैसा समाप्त हो जाने पर शराब की वाटी में विहोशी की दवा मिलाकर दुकान लगा ली एवं मार्ग में आते हुए महाश्रेष्ठी अनार्थपिण्डिक को लूटने की योजना बनायी।[१] शराबी नशे में कभी कभी अशोभनीय हरकते करते थे। कुम्भ जातक में सुरा के दोषों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।[२] समुद्रवाणिज जातक में उल्लेख आया है कि मूर्ख पॉच सौ बढइयो ने शराब के नशे में गाते–नाचते खेलते मदमस्त होकर जहाँ–तहाँ पेशाब–पाखाना' कर दिया।[३]

शराब के व्यापारी के रूप में बड़े बड़े सेठों का भी उल्लेख मिलता है। एक शराब का व्यापारी अनाथपिण्डिक का मित्र था। वह लोगों से हिरण्य, सोना आदि लेकर शराब वेचता था।[४] अंगुत्तर–निकाय में शराब की दुकानदारी करना अनुचित माना गया है।

मांसाहार

बुद्धकालीन समाज में शाकाहारी भोज्य पदार्थों के साथ साथ मांसाहार भी बड़े पैमाने पर ग्रहण किया जाता था। दीघ निकाय के चक्कवत्ति–सीहनाद–सुत्त में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'वर्तमान समय में शालि भात के साथ मास प्रधान (उत्तम) भोजन है।'[५] मूगपक्ख जातक में काशीराज कहते हैं, मै मांस के साथ शुद्ध शाली के भात का भोजन करता हूँ अब पत्ते नहीं खा सकता हूँ।[६] यही तथ्य अन्यत्र भी स्पष्ट होता है।[७]

---

१. पुराणपति जातक, जातक संख्या ५३;

२ कुम्भ जातक, जातक सख्या ५१२;

३. समुद्रवाणिज्य जातक, जातक संख्या ४६६;

४. वारुणी जातक, जातक संख्या ४७;

५. १– दीघ–निकाय ३/३

६. मूगपक्ख जातक, जातक सख्या ५३८;
न चाहं पण्णं भुज्जाभि न हेतं मठहं भोजनं
सालीनं ओदनं भुञ्जे सुचिं मंसूपसेवन।

७. केसव जातक, जातक संख्या ३४६;

मांसाहार की सुलभता के कारण कभी–कभी लोग वहीं अपना निवास–स्थान बना लेते थे। कुछ प्रत्यन्त देशवासी जहाँ–जहाँ बहुत मॉस मिलता, वहीं वहीं गाँव वसा कर, जंगल में जा, घूम घूम कर मृगादि मार, मांस ला अपने स्त्री–बच्चों को पालते थे जैसे– शिकारी,[१] निषाद,[२] चिड़िमार,[३] मछुए[४] जिनकी जीविका ही मांसाहार पर निर्भर थी, इनके अतिरिक्त राजा, महाराजाओं,[५] ब्राह्मणों[६] एवं नवयुवकों द्वारा भी पशु–पक्षी का शिकार कर मांसाहार का आनन्द लिया जाता था। स्थान–स्थान पर मॉस की दुकानें लगी रहती थी।[७] इसके साथ साथ गाड़ियों पर मांस लादकर[८] एवं वैहगी[९] में भर कर भी इसका विक्रय किया जाता था।

पशु-मांस

१- मृग-मांस-

पशुओं के मांसाहार में मृग–मांस की विशिष्ट मांग थी। बनारस का राजा बिना मृग–मांस के भोजन नहीं करता था।[१०] भल्लाटिक नामक राजा की इच्छा हुई कि वह अंगार में पका हुआ मृग–माँस खाये। उसने अपना राज्य अमात्यों को सौंप, गंगा में गिरने वाली एक नदी देख

---

१. जातक सख्या ३१५;

२. जातक संख्या ५०१;

३. चुल्लहस जातक, जातक संख्या ५३३;

४. संयुत्त निकाय, हि० अ० ५४;

५. कुरंगमिग जातक, जातक संख्या २१,

६. भूरिदत्त जातक, जातक संख्या ५४३;

७. निमि जातक, जातक संख्या ५४१;

८. मंस जातक, जातक संख्या ३१५;

९. जातक संख्या ५४३;

१०. निग्रोध मृग जातक, जातक संख्या १२;

उसी के साथ साथ चल, मृग – सुअर आदि मार, उनका अंगार–पका मांस खाता हुआ इधर–उधर विचरण किया।[1] चुल्लधनुग्गह जातक में वटमारी करने वाले पचास चोरों के मृग–मांस खाने' का उल्लेख है।[2]

वाराणसी का द्वार ग्रामवासी एक व्राह्मण, अपने सोमदत्त नाम के पुत्र के साथ जंगल जा, मृणों को मार वैहगी पर मांस रख वेचकर, जीविका चलाता था।[3] इसी प्रकार अन्यत्र भी मृग के शिकार एवं मांसाहार का उल्लेख मिलता है।[4]

सुअर मांस

पशुओं के मांस में सुअर–मांसाहार का अनेकत्र प्रसंग मिलता है। विवाह आदि में सुअर मांस का व्यंजन परोसा जाता था।[5] सुअर का उत्तम मांस प्राप्त करने हेतु उसे उत्तम खाद्य पदार्थ यवागु-भात खिलाया जाता था। भगवान बुद्ध ने जो अन्तिम आहार ग्रहण किया था उसमें सुअर मांस भी था। चुन्द नामक कर्मारपुत्र ने पावा में भगवान बुद्ध को भिक्षुसंघ सहित उत्तम खद्यभोज्य एवं बहुत सा शकर–मार्दव (= सूकर–मद्दव) का भोज दिया था। जिसको खाने के वाद भगवान् को खून गिरने की कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई एवं मरणान्तक पीड़ा होने लगी।[6]

१– भल्लाटिय जातक, जातक संख्या ५०४;

२.– चुल्लधनुग्गह जातक, जातक संख्या ३७४;

३.– भूरिदत्त जातक, संख्या ५४३;

४.– इन्द्रिय जातक, जातक संख्या ४२३; सुवण्णमिग जातक, जातक संख्या ३५६;

५.– मुनिक जातक, जातक संख्या ३०;

६.– दीघ– निकाय, महापरिनिव्वाण–सुत्त २/३;

अन्य विविध पशुओं जैसे बैल,[1] बकरी,[2] श्रृगाल,[3] वानर,[4] गोह[5] आदि का मांस खाया जाता था। दुर्भिक्ष के समय लोगो द्वारा हाथी, घोड़े, कुत्ते, सॉप, सिंह, वाघ चीते, भालू, लकड़बग्घा का मांस खाया जाता था जिसका भिक्षुओं के लिए निषेध था।[6]

पक्षी मांस-

पक्षीयों का मास भी लोग बडी रूचि के साथ ग्रहण करते थे। जातक कथाओं में बटेर,[7] हंस,[8] तित्तिर,[9] चील,[10] मोर,[11] मुर्गे,[12] कौवे,[13] के मांस खाने का उल्लेख मिलता है।

१— गहपति जातक, जातक संख्या १९९; संखपाल जातक, जातक सख्या;

२— तक्कारिय जातक, जातक संख्या ४८१;

३— सिगाल जातक, जातक संख्या १४२;

४— महाकवि जातक, जातक संख्या ४०७;

५— पक्कगोध जातक, जातक संख्या ३३३;

गोध जातक, जातक संख्या १३८;

६— विनयपिटक, महावग्ग, ६/४/२;

७— सम्मोदमान जातक, संख्या ३३;

वट्टक जातक, ११८;

८— हंस जातक, जातक संख्या ५०२;

चुल्लहंस जातक, जातक संख्या ५३३;

९. तित्तिर जातक, जातक संख्या ११७; कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२;

१०. महाउक्कुस जातक, जातक संख्या ४९४

११. मोर जातक, जातक संख्या १५९

१२. सिरिजातक, जातक संख्या २८४, कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२

१३. पुण्णानदी जातक, जातक संख्या २१४

मत्स्य - मांस

मत्स्य–मांस के भी लोग शौकीन थे।[1] मछली पकडने के बाद प्रायः नदी एवं तालाब के किनारे बालू पर उसे रख देते थे फिर अगारो में पका कर खाते थे। रोहित मछली का सूप एवं नवीन घृत मिश्रित शाली भात बडे स्वाद से लोग खाते थे। चक्कवाक जातक में मछली के विभिन्न प्रकारों जैसे पाठी, पावुस, वालस, मुज्ज तथा रोहित आदि मछलियों का उल्लेख मिलता है।[2]

मानव-मांस

कही–कही तत्कालीन मानव की मांस–लालसा अपने घिनौने रूप में भी दिखाई देती है। वाराणसी नरेश को मानव–मांस भक्षण की लत लग गयी थी। यद्यपि राजा को अपनी इस आदत की बडी कीमत चुकानी पड़ी। सेनापति एवं राज्यवासियों ने राजा का देश निकाला दे दिया।[3] विनयपिटक में सुप्रिया नामक परम श्रद्धालु उपासिका द्वारा एक भिक्षु को अपना मांस खिलाने का प्रसंग आता है।[4] जिस पर भगवान् ने भिक्षु को फटकारा एवं मानव मांस खाने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था की। मांस संबंधी बहुसंख्यक प्रसंगों में स्पष्ट है कि मांसाहार तत्कालीन समाज में प्रचलित था एवं बड़े पैमाने पर उसका उपयोग किया जाता था। एक स्थान पर तो मांसाहार धर्माचरण के अर्न्तगत उपदिष्ट किया गया है। देवेन्द्र शक्र एक स्थान

---

१. लोल जातक, जातक संख्या २७४, हरितमात जातक, जातक संख्या २३६, उभतोभट्ठ जातक, जातक संख्या १३६, मितचिनी जातक सख्या ११४ सिगाल जातक, जातक संख्या ११३

२. चक्कवाक जातक, जातक संख्या ४५१

३. महासुतसोम जातक

४. विनयपिटक, महावग्ग, ६/४/२

पर राजा को उपदेश देते हुए कहते है– हे राजन्! . . . तुम मांसोदन (पुलाव) खाओ, घी, खीर खाओ तथा मधु के साथ पुए खाओ। इस प्रकार धर्माचरण में रत तुम आनन्दित रहकर स्वर्ग लोग को प्राप्त करोगे।[1] परन्तु मांसाहार के बहुप्रचलन के होते हुए हमें इसके विरोध में भी स्वर सुनाई देता है। संकिच्च जातक मे कहा गया है कि भेंड को मारने वाले, सुअरों को मारने वाले, मछलियों को मारने वाले, हिरनों को मारने वाले .... शक्तियों से, लोहे के हथौड़े से, तलवारों से तथा वाणों से मारे जाकरकर सिर नीचे पैर ऊपर क्षार नदी में गिरते हैं।[2] इसी प्रकार का स्वर निमि जातक में भी सुनायी पड़ता है– 'भेड़ मारने वाले, सूअर मारने वाले, मछली मारने वाले, बकरी–भेड़ ओर भैंस मारने वाले जब इन पशुओं को मारकर उनका मांस बेचने के लिए दुकानों पर फैलाते हैं, तो इन रुद्र कर्म करनेवालों के पाप–कर्म पकने पर वे ढेर होकर गिर पड़ते है।[3]

यद्यपि दवा के रुप में पशुओं की चर्बी का प्रयोग कर सकते थे। "भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ चर्बी की दवाई की, (जैसे कि) रीछ की चर्बी, मछली की चर्बी, सोंस की चर्बी, सुअर की चर्बी, गधे की चर्बी, काल से लेकर काल से पका काल से, तेल के साथ मिलकर सेवन करने की।"[4]

---

१. कुम्भ जातक, जातक संख्या ५१२,
मंसोढनं सप्पीपाञ्ज मुञ्च खादस्सु चत्वं मधुना अपूये
एव तुवं धम्मरतो जनिन्द अनिन्दतो सग्गमुपेहि ठानं।।

२. संकिच्च जातक, जातक संख्या ५३०
ओरभिका सूकरिका मच्छिका निगवन्धिका, चोरा गोघातका लुछा अवण्णे वण्णकारका
सत्तीहि लोहकूटेहि नेत्तिंसेहि उसूहि च, हञमाना खारनदि पपतन्ति अवंसिरा।।

३. निमि जातक, जातक संख्या ५४१
ओरभिका सूकरिका च मच्छिका
पसुं महिसञ्च अजेलकञ्च
हन्त्वान सूनेसु पसारयिंसु
ते लुद्दकम्मा पसवेत्वा पापं
तेमे जना विलकता सथन्ति।

४. विनयपिटक, महावग्ग, ६/१/२;

वस्त्र

प्रारम्भिक पालि साहित्य मुख्यतः विनयिपटक एवं जातकों से बुद्धयुगीन समाज में प्रचलित वेषभूषा पर प्रकाश पडता है। वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में पर्याप्त विविधता दिखाईदेती है। अनेक स्थानों पर ६ प्रकार के वस्त्रों की गणना एक साथ की गई है ये छे प्रकार के वस्त्र है।[1]

(१) क्षौम (अलसी की छाल का वस्त्र)

(२) कपास

(३) कौशेय (रेशमी वस्त्र)

(४) कम्बल (ऊनी वस्त्र)

(५) सन (का वस्त्र)

(६) भॉग (की छाल का वस्त्र)

---

१. विनय पिटक, महावग्ग, १/४/७

वही ८/२/१

वही १/२/६

सभी प्रकार के वस्त्रों में काशी का कपड़ा सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था।[1] महाउम्मग्ग जातक में लाख के मूल्य के काशी के वस्त्र का उल्लेख आया है।[2] यहाँ के अनेक प्रकार के वस्त्रों में सूती एवं रेशमी वस्त्र विशिष्ट रुप से विख्यात थे। इसी प्रकार शिवि के दुशाले भी बहुमूल्य थे। उज्जैन के शासक प्रद्योत ने वैद्य जीवक कौमारभृत्य के पास बहुत सौ हजार दुशाले के जोडों में अग्र (श्रेष्ठ) शिवि के दुशाले का जोडा भेजा था।[3] वाहीत[4], खोम एवं कोदुम्बर[5] प्रदेश के वस्त्रों की भी दूर–दूर तक मॉग थी।

वस्त्रों का मूल्य उनकी सूक्ष्मता एवं मृदुता से ऑका जाता था। कौशेय (रेशम), कपास (सूती) अलसी एवं कम्बल (ऊन) के बहुमूल्य वस्त्र बनाये जाते थे। कुशावती नरेश के ऐश्वर्य की प्रशसा करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं कि यहाँ के राजा के पास क्षौम (अलसी), कपास, कौशेय तथा ऊन के सूक्ष्म चौरासी हजार करोड़ वस्त्र थे।[6] इसी प्रकार एक स्थान पर अलसी, कपास, कौषेय और कम्बल के सूक्ष्म एवं मृदु विछौनों (आस्तरणों) और प्रावरणों (ओढनों) के दान का महात्म वर्णित है।[7]

काशिराज ने प्रसिद्ध वैद्य जीवक कौमार–भृत्य के पास पॉच सौ का क्षौम (=अलसी की छाल का बना हुआ कपड़ा) –मिश्रित कम्बल भेजा था जिसको जीवक ने भगवान बुद्ध को दान कर दिया था।[8] इन छे प्रकार के वस्त्रों में सन का कपड़ा साधारण एवं सस्ता माना जाता था।[9]

---

१. सुयत्त निकाय, ५/४३/५/१०

२ महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६;

३. विनयपिटक *महावग्ग* ८/१/१

४. मज्झिम निकाय २/४/८

५. जातक संख्या ५४७, जातक संख्या ५३६

६. दीघ निकाय, महासुदस्सन सुत्त,२/४

७. दीघ निकाय, लक्खणसुत्त३/७

८. विनय पिटक, महावग्ग, ८/१/४

६. दीघ निकाय, पृ ठ ६३

तपस्वियों एवं भिक्षुओं द्वारा कुश घास एवं वल्कल (छाल) निर्मित वस्त्र भी प्रयोग किये जाते थे।[१]

अनेक प्रकार के पशुओं के चमडे से भी वस्त्र बनाये जाते थे। षडवर्गीय भिक्षु सिंह–चर्म, व्याघ्र–चर्म एवं चीते के चर्म इन तीन महाचर्मो को धारण करते थे एवं उसे चारपाई एवं चौकी के नाप के बराबर काटकर बिछाते थे।[२] गाय के चमडे का भी इसी प्रकार उपयोग करने का उल्लेख मिलता है।[३] भिक्षुओं के लिए कोई भी चर्म धारण करने की आज्ञा नहीं थी।[४] इन पशुओ के चमडे के अतिरिक्त भेड के चमड़े, बकरी के चमड़े, मृग के चमड़े,[५] बैल के चमड़े[६] का भी वस्त्र रूप में उपयोग होता था। चमडे के वस्त्रों का उपयोग मुख्यतः विछाने एवं ओढ़ने में ही किया जाता था। कादलि मृग–चर्म मूल्यवान् माना जाता था।

वालों एवं विभिन्न पक्षियो के पंखों का भी प्रयोग वस्त्र–निर्माण में किया जाता था। मनुष्य के केश के कम्बल, घोड़े के बाल के कम्बल एवं उल्लू के पंख के बने वस्त्र का प्रसंग दीघ–निकाय में आया है।[७] विनयपिटक में भी एक भिक्षु द्वारा इस प्रकार के वस्त्र पहनने का उल्लेख है।[८]

---

१. मक्कट जातक, जातक संख्या १७३;
   दीघ–निकाय, हि० अ० पृ ठ ६३;
२. विनयपिटक, महावग्ग, ८/२/५;
३. वही, ८/२/६
४. वही,
५. विनयपिटक, महावग्ग, ५/३/१
६. मज्झिम–निकाय, हि० अ० पृ ठ ४६;
७. दीघ निकाय, हि० अ० पृष्ठ ६३
८. विनयपिटक, महावग्ग ८/८/३

पालि–साहित्य से वेशभूषा सम्बन्धी जो जानकारी प्राप्त होती है उसको दो भागों में विभक्त करके अध्ययन किया जा सकता है (१) भिक्षु भिक्षुणियों एवं ब्राह्मण तपस्वी की वेशभूषा (२) गृहस्थों की वेशभूषा। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से सामान्य गृहस्थों के पहनावे–ओढ़ावे से अधिक स्पष्ट जानकारी भिक्षु–भिक्षुणियों में प्रचलित वेशभूषा की होती है।

पुरुष वेशभूषा

बौद्ध भिक्षुओं के लिए भगवान बुद्ध ने तीन प्रकार के चीवरों की अनुमति दी थी।[1] (१) संघाटी (=दोहरी चादर) (२) अन्तरवासक (=लुंगी), (३) उत्तरासंग (=चादर)। संख्या में तीन वस्त्र होने के कारण ही इसे ही त्रिचीवर कहा जाता था।[2]

एक स्थल पर छाल के चीवर के वारह गुण गिनाये गये हैं।[3]

(१) सस्ता, सुन्दर तथा विहित होना यह पहला गुण है।

(२) अपने हाथ से बनाया जा सकता है।

(३) जल्दी मैला नहीं होता है और धोने में भी कठिनाई नहीं होती।

(४) उपयोग करते करते फटने पर सीने की आवश्यकता न होना।

(५) नया ढुढने पर आसानी से मिल सकना।

(६) तापस साधुओं के अनुकूल होना।

---

१. विनयपिटक, हि० अ० पृ० १७

विनयपिटक, महावग्ग १/४/६

२. विनयपिटक, महावग्ग, ८/४/२

३. जातक प्रथम, पृष्ठ ११;

(७) चोरों के काम का न होना।

(८) पहनने वाले के लिए शौक का कारण नहीं होना।

(९) पहनने में हल्का होना

(१०) चीवर रूपी समान (=प्रत्यय) के विषय में सन्तोष,

(११) छाल (=वल्कल) से उत्पन्न होने के कारण धर्म की दृष्टि से निर्दोष होना

(१२) छाल का चीवर न ट होने पर उसके लिए परवाह न होना।

भगवान ने मगध के खेतों को मेड़ बँधा, कतार बँधा, मर्यादा बँधा और चौमेड़ बँधा देखकर आनन्द को भिक्षुओं के लिए इसी प्रकार के चीवर बनाने को कहा। आयुष्मान् आनन्द ने भगवान की इच्छा समझकर बहुत से त्रिचीवरों को काट, सिलकर पहनने योग्य बनाया। आनन्द के कृत्य पर प्रसन्न होकर भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया।

"भिक्षुओं! आनन्द पंडित है, आनन्द महाप्रज्ञ है जो कि उसने मेरे संक्षेप से कहने का विस्तार में अर्थ समझ लिया। क्यारी भी बनाई, आधी क्यारी भी बनाई मंडल भी बनाया, अर्ध मंडल भी बनाया, विवर्त (=मंडल और अर्धमंडल दोनों मिलाकर) भी बनाया, अनुविवर्त भी बनाया, ग्रैवेयक (गर्दन की जगह चीवर को मजबूत करने की दोहरी पट्टी) जांघेयक (=पिंडली की जगह चीवर को मजबूत करने की दोहरी पट्टी) बाहुवन्त (=बाँह की जगह का चीवर का भाग) भी बनाया। छिन्नक (=काटकर सिला चीवर) शस्त्र-रक्ष (=मौटा-झौटा) और श्रमणों के योग्य होगा और प्रत्यर्थी (=चुरानेवालों) के काम का न होगा।

भिक्षुओं! अनुमति देता हूँ, संघाटी, उत्तरासंघ और अन्तरवासक को छिन्नक (=काट कर सिला) बनाने की।"

प्रारम्भ में भिक्षु–भिक्षुणियों के केवल पांसुकूल (फटे–पुराने वस्त्रों) को धारण करने की अनुमति थी। विनयपिटक में उरुबेला के चमत्कार के वर्णन में एक प्रसंग आया है जिसमें स्वयं भगवान बुद्ध पुराने चिथडों को पुष्करिणी में धोकर, शिला पर फैलाकर सुखाते हैं।[२]

कौमारभृत्य जीवक के अनुरोध पर[३] "भन्ते! भगवान् मेरे इस शिवि (=देश के दुशाले के जोड़ों को स्वीकार करें और भिक्षु–संघ को गृहस्थों के दिये चीवर (=गृहपति–चीवर) की आज्ञा दें।" तब भगवान् ने शिवि के दुशाले को स्वीकार किया तथा भिक्षुओं को आशा दी कि जो चाहे पांसुकूलिक रहे जो चाहे गृहपति चीवर धारण करे।[४]

संघ को प्राप्त होने वाले चीवर के भिक्षु–भिक्षुणियों के मध्य बँटवारा करने के लिए पूरी व्यवस्था सुस्थापित की गई थी। इसके लिए भिक्षु–संघ में विभिन्न कर्मचारियों– चीवर–प्रतिग्राहक[५] (=ग्रहण करने वाले), चीवर–निदहक[६] (चीवर को रखने वाला), भंडागारिक[७] (=भंडारी) का चुनाव होता था।

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ८/४/१
२. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/१४
३. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/१
४. विनयपिटक, महावग्ग, ८/१/२
५. वही, ८/२/२
६. वही, ८/२/३;
७. वही, ८/२/४;

खुजली, फोडा, आस्राव या स्थूलकक्ष का रोग होने पर भिक्षु को कोपीन (कंडूक प्रतिच्छादन) धारण करने की अनुमति थी।[1] बरसात में कपडों के जल्दी न सूखने से बरसात भर के लिए भिक्षु लुंगी के तौर पर पहनने लायक एक और चीवर ले सकता है, इसे वार्षिक शटिका कहते थे। इसका प्रमाण (नाप) सुबुद्ध के बित्ते से लम्बाई छे बित्ता, चौड़ाई ढाई बित्ता होनी चाहिए थी।[2] ऊपर वर्णित त्रिचीवरों के अतिरिक्त कुछ भिक्षु कठिन चीवर नामक एक अन्य वस्त्र भी धारण करते थे। वर्षावास के अन्त में गृहस्थों द्वारा एक संघाटी प्रदान की जाती थी जिसे संघ अपनी ओर से किसी सम्मानित भिक्षु को देता था इस चीवर की संज्ञा कठिन चीवर थी, क्योंकि इसकी प्राप्ति कठिन थी।

पहनने के उपरोक्त वस्त्रों के अलावा भिक्षुओं द्वारा अन्य कार्यों के लिए भी कुछ वस्त्र प्रयोग किया जाता था बिछाने के लिए चादन[3], मुख–पोछने के लिए मुख–पोछन (अँगोछा)[4]

जनसाधारण पुरुषों के पहनावे में मुख्यतः तीन वस्त्र होते थे–धोती (=अन्तरवासक), दुपट्टा (उत्तरासंग) एवं पगडी (उण्णीस)। अंगुत्तर निकाय में साधारण गुहस्थों के लिए वेठन (धोती) कंचुक, निवासन तथा उत्तरासंग धारण करने का विधान उल्लिखित है।[5] कंचुक सम्भवतः वक्ष को ढँकने वाला कोई कसा वस्त्र होता था। उत्तरासंग ऊपर से धारण करने वाला वस्त्र था जिसे कई स्थल पर 'उत्तरीय' भी कहा गया है।

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ६/५/२

२. विनयपिटक हि० अ० पृष्ठ–३१;

३. विनयपिटक, महावग्ग, ८/५/१

४. विनयपिटक, महावग्ग, ८/५/३

५. अंगुत्तर निकाय १, पृष्ठ १४५;

अन्तरवासक (=धोती) कटिप्रदेश के नीचे धारण किया जाता था। उसे कायबंधन (=कमरबन्ध) से बॉधा जाता था। ये विभिन्न प्रकार जैसे कलावुक (गोल), देड्डुभक (पानी के सॉप के फन जैसा) मुरज (मृदंग जैसा), मद्दवीण (पांमग के आकार का), पट्टी एवं शूकर के ऑत जैसा।[1] भिक्षुओ को कमरबन्द धारण करने की अनुमति थी।एक बार एक भिक्षु बिना कमरबन्द बॉधे ही गॉव में भिक्षा के लिए गया, मार्ग में उसका अन्तरवासक खिसक गया जिससे लोगों द्वारा उसका उपहास किया गया। इसके बाद भगवान ने भिक्षुओं के लिए कमरबन्द आवश्यक कर दिया।[2]

विनयपिटक[3] में अन्तरवासक धारण करने की अनेक विधियों का उल्लेख है–

१. हस्तिशौंडिक (चोल देश की स्त्री की भॉति नाभी से नीचे तक लटकाना)

२. मत्स्यबालक (किनारी और छोर को चुनकर मछली की पूँछ की भॉति पहिनना)

३. चतुष्कर्णक (ऊपर दो, नीचे दो इस प्रकार चारों कोनों को दिखाते कपड़ों को पहिनना)

४. तालवृन्तक (ताल के पत्ते की भॉति चुनकर लटकाना)

५. शतवल्लिक (सैकड़ों चुन्नटों को दिखाते पहिनना)

गृहस्थों की भॉति उपरोक्त फैशन से वस्त्र पहिननें की भिक्षुओं को मनाही थी।

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/४/३

२. वही।

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/४/५

स्त्री-वेशभूषा-

भिक्षुणियाँ भी बौद्ध भिक्षुणियों की भाँति त्रिचीवर अर्थात् संघाटी, उत्तरासंग (दुपट्टा) एवं अन्तरवासक (धोती) धारण करती थी।[१] इन चीवरों के अतिरिक्त भिक्षुणियों को कंचुक भी धारण करना आवश्यक था, जिसके बिना धारण किये वे गाँव में प्रवेश नहीं कर सकती थी।[२] कंचुक के विषय में कोई विशेष सूचना प्रारम्भिक पालि साहित्य से नहीं मिलती है। विनयपिटक के चुल्लवग्ग मे भिक्षुणियो द्वारा धारण करने वाले एक अन्य वस्त्र संकच्चिक (=अंगरखा) का भी उल्लेख मिलता है।[३]

स्नान के समय भिक्षुणियों को नग्न रहने पर दण्ड का विधान था। नहाते समय एक प्रकार की साडी जिसे "उदकसाटिका" कहा जाता था को पहनना आवश्यक था। इसका नाप बुद्ध के बित्ते से लम्बाई चार बित्ता और चौड़ाई दो बित्ता।[४]

भिक्षुणियाँ शरीर को भलीभाँति चारो ओर से ढँककर (परिमंडल) वस्त्र पहनती थी। गृहस्थ के घर जाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था।[५]

साधारणत: स्त्रियाँ अपना तन ढँकने हेतु साड़ी (अन्तरवासक), कंचुक तथा ओढ़नी का प्रयोग करती थी। सम्भ्रान्त वर्ग की स्त्रियाँ महीन रेशमी साड़ी पहनती थी। मोटी एवं मजबूत साडियों को "बालित्थग साटिका" कहा जाता था।[६] स्त्रियाँ लम्बे कमरबन्द (कायवन्ध) धारण

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/५/३;

२. विनयपिटक, हि० अ० पृ० ५८;

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १०/५/३

४. विनयपिटक, पृ० ५३

५. विनयपिटक, हि० अ० पृ० ६७;

६. जातक, ३, पृ० ५५

करती थी। उसकी पोछ (=फासुका) लटकाती थी। ये कमरबन्द विभिन्न प्रकार के होते थे वीलिव (=वॉस के बने) पट्ट, चर्मपट्ट, दुस्स (=थान) पट्ट, दुस्स–वेणी (=कपड़े को गूथकर), दुस्स–वट्टी (=झालर) चोल–पट्ट (=साड़ी का चुनाव), चोल–वेणी, चोल–वट्टी, सूत–वेणी, सूत की वट्टी।

ऋतुमती स्त्रियॉ आवसथ चीवर (ऋतुकाल के उपयोग के लिए कपडा) एवं अणि–चोल (लोहू–सोख) का प्रयोग करती थी। इन्हें अपने स्थान पर स्थिर रखने के लिए ऐंठे (संवेल्लिय) कटि सूत्र का प्रयोग करती थी।

सरभंग जातक में एक धनुर्धारी की वेशभूषा का वर्णन है जो कवच कंचुक एवं सिर पर उण्णीस (पगड़ी) धारण कर, मेढ़े के सीग वाले धनुष में मूंगे के रंग की डोरी बांध, पीठ पर तूणीर कर, बाई ओर तलवार लटका कनात के अन्दर से बड़ी तेजी से वाहर आया।[1] इसी से मिलती जुलती वेशभूषा का वर्णन एक अन्य थान पर भी है।[2]

इस युग में अपनी साज–सज्जा (श्रृंगार) के प्रति कहीं–कहीं लोगों में बड़ी सजगता दिखाई देती है। श्रेष्ठता के लिए प्रतिद्वन्द्विता करती कालकण्णी एवं सिरी नामक दो कन्यायें एक ही रंग का वस्त्र, आभूषण एवं श्रृंगार धारण करती है। विरुपक्ष महाराज की पुत्री कालकण्णी नीला वस्त्र, नीला लेप एवं नीलमणि के आभूषण से अपने को सॅवारती है तो धृतराष्ट्र महाराजा की कन्या सिरी सुवर्ण–वर्ण वस्त्र, सुवर्ण–वर्ण सुगन्धित लेप एवं स्वर्णालंकारों को धारण कर, गौरव–युक्त हो खड़ी होती है। इसी प्रकार मैचिंग वस्त्राभूषण पहनावे के उल्लेख दीघ–निकाय के महापरिनिब्बाण–सुत्त में मिलता है। भगवान् बुद्ध के वैशाली आगमन पर कोई लिच्छवि नागरिक नील–वर्ण वस्त्र एवं नीले अलंकार वाले, कोई पीले वस्त्र एवं पीले अलंकार वाले कोई लोहित वस्त्र एवं लोहित अलंकार वाले, कोई श्वेत वस्त्र एवं श्वेत अलंकार वाले होकर– उनसे भेंट करने गये।[3]

---

१. सरभंग जातक, जातक संख्या ५२२;

२. असदिस जातक, जातक संख्या १८१;

३. दीघ–निकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त २/३

जूता- अनेक प्रकार के जूतों के प्रयोग की जानकारी प्रारम्भिक पालि साहित्य से मिलती है। जूते विभिन्न आकार--प्रकार (डिजाइन) के होते थे जैसे एडी को ढकनेवाले जूते, पुट–बद्ध (यूनानी लोगां के जैसे) जूते, पलिगुठिम (आजकल के 'बूट' की तरह सारे पैर को ढॉकने वाले)जूते, तीतर के पंखो जैसे जूते, बिच्छू के डंक की तरह नोकवाले जूते, एवं मोर–पंख सिले जूते। ये रग–विरंगे होते थे। षड्वर्गीय भिक्षु नीले रंग के जूतों, पीले रंग के जूतों, लाल रंग के जूते, मजीठिया रंग के जूते, काले रंग के जूते, महारंग से रंगे जूते, महानाम–(रंग) से रँगे जूतों को पहनते थे।[१]

इन जूतों पर चित्र अंकित भी किये जाते थे। अनेक प्रकार के पशुओं के चमड़े से जूते निर्मित किये जाते थे। सिंह के चर्म व्याघ्र के चर्म, चीते के चर्म, हरिन के चर्म, उदबिलाव के चर्म, बिल्ली के चर्म, कालक के चर्म, उल्लू के चर्म से परिष्कृत जूतों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में आया है।[२] जातक कथाओं में चर्मकार द्वारा चमड़े को काटकर जूते बनाने का उल्लेख आया है।[३]

जूतों के अतिरिक्त ताल के पत्तों की, वॉस, तृण, मूँज, वल्वज, हिताल, कमल की पादुकायें भी पहनी जाती थी।[४] काठ की खडाऊँ का भी प्रचलन था।[५] रुईदार जूते[६] एवं कम्बल (ऊन) की

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/४

२. विनयपिटक,महावग्ग, ५/१/६

३. काम जातक, जातक संख्या ४६७;

४. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११

५. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/१०

६. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/५

पादुकायें[1] सम्भवतः जाडे से रक्षा के निमित्त पहनी जाती थी। समृद्ध लोग सुवर्णमयी, रौप्यमयी, मणिमयी, वैदूर्यमयी, स्फुटिकमयी, कॉसमयी, कॉचमयी, रॉगे की, सीसे की, तॉबे की पादुकायें धारण करते थे।[2] वाराणसी के समृद्ध श्रेष्ठी का सुकुमार पुत्र यश सुनहला जूता पहनता था।[3]

भिक्षु भी जूतों का प्रयोग करते थे। प्रारम्भ में भिक्षुओं को केवल एक तल्ले वाले जूतें के प्रयोग की अनुमति थी परन्तु कालान्तर मे अनेक तल्ले वाले जूते के प्रयोग की आशा मिल गयी। परन्तु इसके लिए आव यक था कि बहुत तल्ला वाला जूता पहिनकर छोड़ा हुआ हो अर्थात् नया न हों। एक तपस्वी पाञ्चाल नरेश का आतिथ्य स्वीकार कर वापस हिमालय पर जाते हुए एक तल्ले वाले जूतें की इच्छा करता है।[4] शंख जातक में एक उपासक द्वारा तथागत को हजार मूल्य का, दो अग्र–श्रावकों को पॉच–पॉच सौ के एवं पॉच सौ भिक्षुओं के सौ–सौ मूल्य के जोड़े जूतों को दान देने का उल्लेख है।[5]

उचित रीति से न बनाने पर जूते कभी कष्ट का कारण भी बन जाते थे। "जिस प्रकार सुख के लिए खरीदे गए जूते गर्मी से तप्त होकर तथा पैर के तलुवे से पीड़ित होकर उसी आदमी के पैर को काट खाते हैं, उसी प्रकार जो नीच कुल का अनाय्र्य होता है वह जिस (आचाय्र्य) से विद्या तथा श्रुत ग्रहण करता है उसी को अपने ज्ञान (श्रुत) से खाता है। अनाय्र्य आदमी खराब जूते के समान समझा जाता है।"[6]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११; वि० पि० पृष्ठ ३५,६६

२. विनयपिटक, महावग्ग, ५/१/११

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/८
वही ५/१/११

४. ब्रह्मदत्त जातक, जातक संख्या ३२३;

५. शंख जातक, जातक संख्या ४४२;

६. उपाहन जातक, जातक संख्या २३१;

आभूषण

प्रारम्भिक पालि साहित्य से तत्कालीन समाज में प्रचलित आभूषण–प्रियता पर भी प्रकाश पडता है। विविध धातुओं एवं बहुमूल्य रतनों के संयोग से मूल्यवान् आभूषणों का निर्माण किया जाता था। राजपरिवार एवं श्रेष्ठि आदि धनाढ्य वर्ग के पास इस प्रकार के रतनो एव आभूषणों का बाहुल्य रहता था।[1] परन्तु समाज के सभी वर्ग इस प्रकार के मूल्यवान आभूषण नहीं धारण कर सकते थे। महाउम्मग जातक मे उल्लेख आया है कि एक गरीब स्त्री नाना धागों को गठियाकर बनी सूत की कण्ठी गले के धारण करती थी।[2] इसी प्रकार अन्यत्र भी एक दरिद्र परिवार के बालिका उत्सव में अन्य बच्चों को आभूषण धारण करते देखकर उसके लिए विलाप करती है।[3] कौडियों में छेद करके भी गहने बनाये जाते थे।[4]

शिरोभूषण

महावेस्सन्तर जातक में सास द्वारा अपनी पुत्रवधू को माथे का बहुमूल्य आभरण दिये जाने का उल्लेख है।[5] थेरीगाथा में वैशाली की प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली के स्वर्णमय अलंकृत वेणी से विभूषित होने का संदर्भ प्राप्त होता है।[6]

---

१. महाजनक जातक, जातक संख्या ५३१, खण्डहाल जातक, जातक संख्या ५४२, महाहंस जातक, जातक सख्या ५३४, सोरिवाणिज जातक, जातक संख्या ३

२. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४७

३. विनयपिटक, ६/३/३

४. काक जातक, संख्या ३६५

५. महावेस्सन्तर जातक, संख्या ५४७

६. थेरीगाथा, श्लोक नं० २५५

स्त्रीयॉ अपनी केशराशि को बहुमूल्य धातुओं की चिमटी से सुसज्जित करती थी। एक स्थल पर अप्सरा द्वारा सोने की चिमटी को धारण करने उल्लेख मिलता है।[1] स्त्री एवं पुरुषों द्वारा माथे पर ललाटिका नामक आभूषण धारण करने का उल्लेख मिलता है।[2]

राजपरिवारो एवं धनाढ्य वर्ग के पुरुष 'मुकुट' धारण करते थे।[3] इनमें बहुमूल्य रत्नों को जड कर इसकी शोभा बढायी जाती थी। राजाओं द्वारा चूड़ामणि नामक एक अन्य आभूषण माथे पर धारण किया जाता था।[4]

कर्णाभरण

कान में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। अनेक प्रकार के कुण्डल निर्मित किये जाते थे। संयुत्त–निकाय मे मिट्टी का एवं लोहे का बना सोने का पानी चढ़ाया कुण्डल का प्रसंग आया है।[5] ये विभिन्न आकार–प्रकार के होते थे। बनारस की महारानी किन्नरा सिंह–आकृति का कुण्डल धारण करती थी[6]। मणियों से युक्त कुण्डल मणिकुण्डल कहलाते थे।[7]

---

१ अलम्बुरा जातक, जातक संख्या ५२३

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १/३/१

३. जातक प्रथम, हि०अ० पृ० १२६

४. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६, जातक प्रथम, हि०अ० पृ० १३५, महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५२६

५. संयुत्त–निकाय, हि०अ० पृ० ७५

६. जातक संख्या ५३६

७. जातक संख्या ५०३, नानच्छन्द जातक, संख्या २८६

विनयपिटक में कर्णाभूषणों में बाली, पामग एवं कर्णसूत का उल्लेख मिलता है। बाली सम्भवतः साधारण बालियाँ रही होगी। पांमग का समीकरण कर्णफूल से किया गया है। कर्णसूत्र कान का कोई पतला आभूषण होगा।[1]

ग्रीवा भरण

गले का आभूषणों में प्रायः स्वर्णमाला, रजतमाला, मोतियों की माला, ग्रैवेयक, निष्क, विविध प्रकार के कण्ठों का उल्लेख आता है। आयुष्मान् पिलिन्दिवच्छ के प्रताप से एक तिनके का टुकड़ा इतनी सुन्दर स्वर्णमाला में परिवर्तित हो गयी जैसी स्वुर्णमाला मगधनरेश बिम्बसार के अन्तःपुर में भी नहीं थी।[2] जातक कथाओं में अनेक बार बहुमूल्य स्वर्णमाला का उल्लेख है।[3] ग्रैवेयक भी बहुप्रचलित कण्ठाभरण था। प्रतीत होता है कि यह हंसली सदृश्य आभूषण था। अंगुत्तर निकाय में भली भॉति तपा, साफ, कोमल, प्रभास्वर न टूटने वाले स्वुर्ण द्वारा ग्रैवेयक के निर्माण का प्रसंग है।[4] महारानी फुसती ने अपनी पुत्रवधु माद्री के लिए सन्दूक–भर के गहने भेजे जिसमें रत्नों वाला ग्रैवेयक भी था।[5] बौद्ध भिक्षु गर्दन के पास चीवर को मजबूत करने के लिए दोहरी पट्टी सिला करते थे उसको भी ग्रैवेयक कहा जाता था।[6]

निष्क नामक गले के आभूषण जो पूर्वकाल से प्रचलन में था बुद्धकाल में भी लोकप्रिय था। कुसराज ने मद्र राजकुमारी की कुबड़ी सेविका से कहा कि यदि प्रभावती मेरी ओर देख लेगी, बात करेगी, खिलखिलाकर हॅसेगी तो मैं कुसावती पहुँचने पर तेरे लिए निष्क आभूषण

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/३

२. विनयपिटक, महावग्ग ६/३/३

३. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६

४. अंगुत्तर निकाय, हि०अ० भाग १, पृ० २६१

५. जातक, जातक संख्या ५४७

६. विनयपिटक, महावग्ग, ८/४/३

बनवाऊगा।[1] कायूर[2] एव हमेल[3] नामक गले के आभूषण का भी यत्र–तत्र उल्लेख है। सुलसा गणिका चोर से आग्रह करती है कि "हे भद्र यह जो सोने का कायूर (कण्ठा) है . . . . . सब ले लो, और मुझे अपनी दासी घोषित कर लो।" कम्बु के (शंखाकार, ग्रीवाकार) सदृश कंठहार भी बनाये जाते थे। आम्रपाली गणिका कम्बु सदृश गले का आभूषण पहनती थी।[4] मोतियों की मूल्यवान माला भी पहनी जाती थी।[5] महोषध पण्डित से प्रसन्न होकर राजा ने अपने गले की मोतियो की माला उसे दे दी।[6] आर्थिक रुप से कमजोर वर्ग की पहुँच इन बहुमूल्य आभूषणों तक नहीं थी।

वे सूत[7], ऊन[8], कौड़ियों के कण्ठाभरण बना अपना शृंगार करते थे।

हाथ एवं पैर के आभूषण

हाथ के आभूषण के लिए हस्ताभरण[9], चूडी[10], कंगन[11], पट्टिका[12] (अंगूठी) मुद्रिका[13] आदि शब्दों का प्रयोग लाये जाते थे। महाजनक जातक में एक कुमारी द्वारा एक हाथ में एक कंगन एवं दूसरे हाथ में दो कंगन पहनने का प्रसंग आया है। आम्रपाली अपने हाथों में सोने की अंगूठी पहनती थी।[14]

---

१. कुस जातक, जातक सख्या ५३१
२. सुलसा जातक, जातक संख्या ४१६, इदं सुवण्णाकायूरं मुत्ता वेलुरिया बहु, सब्ब हरस्सु भदं ते मच्च दासीति सावय।
३ सोनक जातक, जातक संख्या ५२६
४ थेरीगाथा, लोक नं० २६२
५. महासार जातक, जातक संख्या ९२
६. जातक सख्या ५४६
७. जातक सख्या ५४७
८. महासार जातक, जातक संख्या ९२
९. सोनक जातक, जातक संख्या ५२६, खण्डहाल जातक
१०. कासाव जातक, जातक संख्या २२१
११. महाजनक जातक, जातक संख्या ५३६
१२. अंगुत्तर निकाय, हि०अ० पृ० २३५
१३. अंगुत्तर निकाय, हि०अ० भाग २, पृ० २५०
१४. थेरीगाथा, लोक नं० २६३

स्त्रियॉ पैरों में नुपुर धारण करती थी। थेरीगाथा में आम्रपाली द्वारा पैरों में स्वर्ण–नुपुर पहनने का वर्णन है।[1] पालि साहित्य में पुरुषों द्वारा पैरों में बहुमूल्य चरणपादुका एवं खड़ाऊँ धारण करने का उल्लेख आता है। धनाढ्य वर्ग वेश कीमती चरणपादुका धारण करते थे। मिथिला नरेश सोने के पादुका पहनते थे।[2] विनयपिटक में भी बहुमूल्य धातुओं एवं पत्थरों की सुवर्णमयी, रौप्यमयी, मणिमयी, वैद्वर्यमयी, स्फटिकमयी चरण–पादुकाओं का प्रसंग आया है।[3] इसी प्रकार सुन्दर, अलंकृत खडाऊँ भी निर्मित की जाती थी भूरिदत्त जातक में स्वर्ण–खचित, सुकृत, चित्रित खडाऊँ का वर्णन आया है।[4]

कटि आभूषण

कमर में मेखला एवं कटिसूत्र के धारण करने का उल्लेख मिलता है। जिसका प्रयोग स्त्री एवं पुरुष दोनों ही करते थे। माद्री मणिमय मेखला से सुशोभित थी।[5] पंचाल देश की महारानी स्वर्ण–वर्ण की मणिमेखला पहनती थी।[6] कुस जातक में चारु–दर्शन स्वर्ण–मेखला–युक्त क्षत्रिय कुसराज का उल्लेख है।[7] विनयपिटक में कटिसूत्र नामक कमर के आभूषण का प्रसंग आया है जिसे भिक्षुओं को धारण करना निषेध था।[8]

---

१. थेरीगाथा, लोक नं० २६६, सण्हनुपुर सुवण्णमण्डिता, सोभते तु जंघा पुरे मम।
२. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६
३. विनयपिटक, महावग्ग, ५/२/११,
४. भूरिदत्त जातक, जातक संख्या ५४३
५. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७
६. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६
७. कुस जातक, जातक संख्या ५३१
८. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/२

मनोरंजन के साधन

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य से, प्रचलित आमोद प्रमोद के साधनों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है जिनका अध्ययन निम्न रूप से किया जा सकता है–

नृत्य, गीत, वाद्य

नृत्य, गायन एवं वादन मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था। धनाढ्य वर्ग एवं राजाओं[1] के यहाँ इस प्रकार के संगीतमय कार्यक्रम आयोजित कर, इनका आनन्द लिया जाता था। सिद्धार्थ कुमार बड़े ऐश्वर्य के साथ अपने महल में जा, सुन्दर शैय्या पर लेटे थे, तब अलंकारों से विभूषित, नृत्य–गीत आदि में दक्ष देवकन्या के समान परम सुन्दरी स्त्रियों ने अनेक प्रकार के वाद्यों को लेकर, (कुमार को) घेर कर, खुश करने के लिए नृत्य, गीत और वाद्य आरम्भ किया।[2] वाराणसी के श्रेष्ठी का यश नामक कोमलगात पुत्र वर्षा के चार माह वर्षा–कालिक–प्रसाद में विश्राम करते हुए स्त्रियों के गायन, वादन एवं नृत्य का आनन्द लेता था।[3]

प्रसन्नता के अवसरों पर एवं अतिथि सत्कार में भी कुशल नर्तकियो द्वारा नृत्य आदि किया जाता था। कुमार बोधिसत्व के राज्याभिषेक के अवसर पर नृत्य, गीत एवं वाद्य में कुशल, उत्तम हाव–भाव वाली सोलह हजार नर्तकियों ने गाना बजाना किया था।[4] अतिथि पुण्याक की

---

१. विधुर जातक, जातक संख्या ५४५

२. जातक प्रथम, हि०अ० पृ० १३१

३. विनयपिटक, महावग्ग, १/१/८

४. पञ्चगरुक जातक, जातक संख्या १३२

परिचर्य्या में जिस प्रकार अप्सरायें देव–लोक में नाचती–गाती है, उसी प्रकार समलंकृत नारियॉ एक से एक बढकर नाच–गान करने लगी।[1] उत्स्वों में भी नाच–गाने आदि की बड़ी धूम रहती थी। जिनका अध्ययन आगे किया गया है।

गणिकाये गायन, वादन एवं नृत्य की कलाओं में बडी प्रवीण हुआ करती थी तथा लोगों का मनोरंजन करती थी। विनयपिटक में उल्लिखित है कि वैशाली की परम रुपवती गणिका आम्रपाली नृत्य–गीत एवं वाद्य में चतुर थी। इन कलाओं का विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता था। राजगृह की गणिका पद के लिए कुमारी सालवती का चयन हुआ एवं वह थोड़े काल में ही नृत्य, गीत एवं वाद्य में चतुर हो गई।[2]

गन्धर्व, सूत एवं मागध वर्गो के साथ संगीत अभिन्न रूप से सम्बन्धित था।[3] गन्धर्व–शिल्प (संगीत) में पारंगत को ज्येष्ठ गन्धर्व का पद मिलता था। ये राज दरबारों एवं उत्सवों में लोगों का अपनी कला के माध्यम से मनो–विनोद किया करते थे। उज्जैनी के ज्येष्ठ गन्धर्व का नाम मूसिल तथा बनारस के ज्येष्ठ गन्धर्व का नाम गुत्तिल कुमार था। इनके कार्यक्रम को देखने के

---

१. विधुर जातक, जातक संख्या ५४५

तथ्य नच्चन्ति गायन्ति

अण्हयन्ति वरा वरं

अच्छरा विय देवेसु

नारियों समलंकता।

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ८/१/१

३. गुत्तिल जातक, जातक संख्या २४३, महावेस्सन्तर जातक

लिए राजागंण मे विधिवत् मण्डप आसन आदि लगाये गये जहाँ सारे नगर वासियों सहित राजा आमात्य गणों ने इनका कार्यक्रम देखा।[1] सूत एवं मागध, नट भी नाच–गा कर अपनी जीविका चलाते थे। पदकुसल माणव जातक में उल्लेख आया है कि पाटल नामक नट ने उत्सव में वीणा के साथ नाच–गा कर धनोपार्जन किया।[2]

पालि साहित्य में विभिन्न वाद्य–यन्त्रों के नाम मिलते है जैसे पाणी–स्वर, मृंदग, मुरज, आलम्बर कुम्भ–थून, तूर्य्य, वीणा, भेरी, शंख, ढोल, दण्डिन, मंजीरा आदि। सम्भ्रान्त व्यक्तियों को प्रातः काल जगाने के लिए विभिन्न वाद्य यन्त्र मधुर स्वर में बजाये जाते थे। राजा एवं राजपुत्रों के विभिन्न स्थानों पर प्रस्थान एवं आगमन पर उनके आगे–आगे वाद्यो को बजाते हुए व्यक्तियों का एक समूह चलता था।[3] निर्वासित पुत्र वेस्सन्तर एवं पुत्रवधु माद्री के वापस आने पर शिवि नरेश ने आशा दी कि 'जिस मार्ग से वे आये उस मार्ग पर नट, नर्तक, गायक, हस्त–संगीत वाले, कुम्भथून (ढोल) बजाने वाले उपस्थित हो। सभी वीणायें, भेरी और देण्डिम बजें। शंख फूंके जाये। एक पोक्खर (ढोल) बजे। मृदंग, पणव, शंख, गोध, परिवदेन्ति, दिन्दिमानि तथा कुटुम्बदिन्दिमानि बाजे बजें।'[4] उत्सवों में भी विभिन्न वाद्य–यन्त्रों का घोष किया जाता था।

---

१. पदकुसल माणाव, जातक संख्या ४३२

२. सुधाभोजन जातक, जातक संख्या ५३५, सोननन्द जातक, जातक संख्या ५३२

३. भूरिदत्त जातक, जातक संख्या ५४३

४. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

उत्सव

पालि साहित्य से स्पष्ट है कि लोग अनेक प्रकार के उत्सव एवं समाजो (मेलो) का आयोजन करते थे जिसका आनन्द समाज के सभी लोग लेते थे। निश्चित अवसरों (ग्रह–नक्षत्रो) पर होने वाले उत्सवों के अतिरिक्त राज्य–प्रशासन भी समय–समय पर उत्सव होने की घोषणा करता था। महाजनक के राज्याभिषेक के अवसर पर नगर में महान् उत्सव किया गया। राजभवन में हाथियों को झोल आदि ओढाये गये, सुगन्धियॉ और मालाये फैलाई गई, खील, फूल, सुगन्धी तथा धूप की अधिकता से अंधेरा सा करके, नाना तरह के भोजन तैयार किये गये। लोग राजा को भेंट देने के लिये चान्दी सोने आदि के बर्तनों में नाना प्रकार की खाने पीने आदि की सामग्री और फल–फल लिये जहॉ तहॉ इकट्ठे होकर खड़े थे। एक ओर आमात्य मण्डल बैठा था एक ओर ब्राह्मण–गण, एक ओर श्रेष्ठी आदि। एक ओर उत्तम रुपवती नटियाँ। ब्राह्मणों में स्वस्ति–वाचन तथा मंगल पाठ करने वाले थे। जो मंगल–गीत आदि में कुशल थे उन्होंने मंगल गाने गाये। सैकड़ों बाजे बजे। ये सारा उत्सव राजभवन में सम्पादित हुआ।[1] मिथिला नगरी के चारो ओर से शत्रुओं के घिर जाने पर एक विशेष चाल (योजना) के तहत महोषध पण्डित ने नगर में उत्सव–भेरी बजवायी[2] एवं नागरिकों से कहा तुम आश्वस्त हो, सप्ताह भर तक गाला–गन्ध–विलेपन तथा पान–भोजन आदि तैयार कर उत्सव–क्रीड़ा करो। लोग इच्छानुसार पान करें, नाचें, बजायें, चिल्लायें तथा ताली बजायें। इसका खर्च मेरे सिर रहे। महोषध पण्डित पर अति प्रसन्न मिथिला नरेश ने नगर में सप्ताह भर चलने वाले उत्सव की मुनादी करवा दी और घोषणा की– जो भी मुझसे स्नेह रखते हों,

---

१. महाजनक जातक

२. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६;

सभी पण्डित का सत्कार–सम्मान करें। 'सभी वीणा, भेरी दण्डिम बजे। मागध शंख नाद करें। सुन्दर दुदभी बजे।'[1] इसी प्रकार अन्यत्र भी उत्सव की घोषण किये जाने पर उत्सव मनाने का प्रसग आया है।[2] गुत्तिल जातक में प्रसंग आया है कि उज्जैन में उत्सव घोषित होने पर व्यापार के निमित्त गये बनारस के व्यापारी चन्दा करके बहुत सा माला गन्ध विलेपन आदि तथा खाद्य भोज्य ले क्रीडा–स्थान पर गये वहाँ उज्जैन में विख्यात गन्धर्व मूसिल को वीणा वादन के लिए बुलवाया।[3] इन उत्सवों में आमोद–प्रमोद के साथ–साथ धार्मिक कृत्य भी सम्पादित किये जाते थे। वाराणसी मे नक्षत्र (उत्सव) की घोषणा होने पर लोगों ने यक्षों की वलि दी। घोषित होने वाले इन उत्सवो के अतिरिक्त विशिष्ट तिथियों में मनाये जाने वाले उत्सवों में कार्तिक उत्सव एवं सुरा–उत्सव विशेष लोकप्रिय थे।

कर्तिक उत्सव

शरद ऋतु की चॉदनी रात में यह उत्सव आयोजित किया जाता था। राजगृह नगर में कार्तिकोत्सव के अवसर पर नगर देवनगर की तरह अलंकृत होता था। ऐसे अवसरों पर राजा–महाराजा सत्संग भी किया करते थे। जीवक की सलाह पर राजा ने बड़े राजसी ठाट–बाट से आम्रवन जाकर भगवान् बुद्ध की संगति का लाभ उठाया।[4] शिवि राष्ट्र में कार्तिकोत्सव में उपरिथत होने पर, सूर्यास्त के पश्चात तथा पूर्णचन्द्र का उदय हो जाने पर, देवनगर की भॉति अलंकृत नगर में, चारो दिशाओं में दीपकों के जल जाने पर, सभी अलंकारों

---

१. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५४६;

२. भेरिवाद जातक, जातक संख्या ५६, कक्कारु जातक, जातक संख्या ३२६, पदकुसल माणाव जातक, जातक संख्या ४३२

३. गुत्तिल जातक, जातक संख्या २४३

४. सञ्जीव जातक, जातक संख्या १५०,

से सुसज्जित राजा, श्रेष्ठ रथ पर चढ आमात्यों के साथ बड़ी शान–बान से नगर की प्रदिक्षणा करने को निकलता था। अपने घरों के झरोखों से सुन्दरियॉ राजा पर पुष्पवर्षा करती थी।[१]

जहॉ एक ओर इन उत्सवों में हमें सत्संग लाभ लेते लोग दिखाई देते है वही दूसरी ओर स्त्री पुरुष विलासपूर्ण क्रियाओं में भी लिप्त दिखाई देते है। श्रावस्ती में उत्सव होने पर सभी लोग उत्सव मनाने में मस्त थे। सभी श्रेष्ठि–पुत्रों की पत्नियाँ थी। केवल उत्तर श्रेष्ठी का पुत्र अविवाहित था इसलिए उत्तर श्रेष्ठी के लिए उसके तरुण मित्र सब अलंकारों से सजा एक वेश्या को लाये।[२] पुप्फरत्त जातक मे एक दरिद्र स्त्री उत्सव के अवसर पर केसर के रंग से रंगे वस्त्र पहनकर अपने पति के गले मे दोनों बाहें डालकर विचरण करने की इच्छा व्यक्त करती है।[३]

सुरामहोत्सव

सुरामहोत्सव भी बडी धूम–धाम से मनाया जाता था। इस उत्सव में स्त्री–पुरुष सभी अनियंत्रित रूप से सुरापान का आनन्द लेते थे।[४] सुरा के साथ मांस का सेवन भी किया जाता था।[५] इस उत्सव में प्रायः लोग मद्यपान करके अशोभनीय व्यवहार करते थे। काशी राष्ट्र में परम्परा के अनुसार लोगों ने सुराउत्सव मनाया और सुरा पीकर झगड़ा करते हुए हाथ–पैर तोड़े, सिर फोड़े, कान काटे एवं बहुत से डण्डे तोड़े।[६] एक अन्य सुरामहोत्सव में तपस्वी शराब पी, उद्यान में जाकर शराब से मदरत्त हो, कोई–कोई उठ कर नाचने लगे, कोई कोई गाने लगे। नाच–गा कर खारी आदि फैला कर सो गये। शराब का नशा उतरने पर जब उन्हें चेतना लौटी तो अपने उस दशा को देख 'हमने प्रव्रजित जीवन के अनुकूल नहीं किया (सोच) रोने पीटने लगे।[७]

---

१. उम्मदन्ती जातक, जातक संख्या ५२७
२. वट्टक जातक, जातक संख्या ११८
३. पुप्फरत्त जातक, जातक संख्या १४७
४. कुम्भजातक, जातक संख्या ५१२
५. सिगाल जातक, जातक संख्या १४२
६. पानीय जातक, जातक संख्या ४५६
७. सुरापान जातक, जातक संख्या ८१

चातुर्मासिक कौमुदुनी उत्सव

महानारद कश्यप जातक में चातुर्मासिक कौमुदुनी उत्सव का सुन्दर वर्णन मिलता है। मिथिला का अंग राजा, ने चातुर्मास की चाँदनी पूर्णिमा को अपने आमत्यों के साथ मन्त्रणा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आज अन्धकार मुक्त चाँदनी रात्रि में किसी बहुश्रुत श्रमण–ब्राह्मण की संगति की जाय। तब काश्यप गोत्र के अचेल की संगति हेतु मृदगाय जाने का निश्चय किया गया। राजा के लिए दन्त–निर्मित, चान्दी के किनारेवाला, शुद्ध, चिकना, श्वेत तथा चन्द्रिका सदृश रथ जोता गया जिसमें चार कुमुद–वर्ण सैन्धव घुडे जुते थे जिनका वेग वायु के सामन था तथा जिनके गले में सुनहरी मालाये थी। श्वेत छत्र, श्वेत रथ, श्वेत अश्व तथा श्वेत बीजनी के साथ अमात्यो सहित विदेह राजा चन्द्रमा की तरह शोभा देता था। बहुत से इन्द्रखंगधारी, बलवान्, अश्वारोही आदमियों ने उस राजा का अनुगमन किया।[१]

कर्षणोत्सव

इस उत्सव में कृषि–कार्य का श्रीगणेश किया जाता था। इसमें कृषकों के साथ आमात्य परिषद एवं राजा स्वयं भाग लेते थे। राजा एवं आमात्य गण रत्न–सुवर्णजटिल बहुमूल्य हलों से तथा कृषक साधारण हल से जुताई का कार्य प्रारम्भ करते थे। जिसको देखने के लिए भीड़ एवं तमाशा लगता था। दास–नौकर सभी नये वस्त्र गन्ध माला से विभूषित हो एकत्र होते थे एवं राजपरिवार के सदस्य भी इसमें हिस्सा लेते थे।[२]

---

१. जातक संख्या ५४४

२. जातक प्रथम, हि०अ० पृ० १७६

हस्ति मंगलोत्सव

ये उत्सव राजभवन में आयोजित होता था। हाथी को मांगलिक करने की पूजा–पाठ करवाने के लिए हाथी–मंगल कारक की नियुक्ति होती थी। विद्वान एवं हस्ति विद्या में पारंगत व्यक्ति ही इस प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त होता था। इस हस्ति–मंगलोत्सव में सामान भाण्डे तथा हाथी के अलकार आदि करोडो मूल्य की वस्तु जो भेंट देते थे वो हस्ति–मंगल कारक को ही मिलती थी।[१] इसकी पूजा पाठ में बडा जश्न मनाया जाता था। मंगल हाथी राज्य के लिए शुभ माना जाता था। उसका श्रृंगार सुवर्ण एवं बहुमूल्य मणियों द्वारा किया जाता था। महावेस्सन्तर जातक में सिवि राष्ट्र के सर्वश्वेत मंगल हाथी के शरीर पर कुल वाईस लाख रुपये के स्वर्णाभूषण एवं छत्र के ऊपर मणि, चूलामणि, मुक्ताहारमणी, अङ्कुश पर मणि, हाथी के गले में बांधने के मुक्ताहार मे मणि, हाथी के कुम्भ पर मणी का उल्लेख आया है।[२]

बौद्ध ग्रन्थों में समज्ज शब्द का उल्लेख है जो कदाचित् उत्सव या मेला का ही द्योतक है। रतिलाल मेहता के अनुसार समाज एक विशेष प्रकार का जनसमुदाय था, जिसमें आबालवृद्ध स्त्री–पुरुष विविध प्रकार के खेल अभिनय, संगीत, नृत्य, आख्यान, राजयुद्ध, अश्वयुद्ध, दण्डयुद्ध मल्ययुद्ध आदि देखते थे और उनमें स्वयं भी भाग लेते थे।[३] विनयपिटक में राजगृह में गिरग्ग–सम्ज्ज (पहाड़ के पास समाज या मेला) का उल्लेख आया है। जहाँ नाच, गाना, बाजा आदि देखने के लिए गये भिक्षुओं के लिए दण्ड का विधान किया गया है।[४]

---

१. सुसीम जातक, जातक संख्या १६३

२. महावेस्सन्तर जातक, जातक संख्या ५४७

३. प्री बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० ३५५

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५/१/५

द्यूत-क्रीड़ा

धूत–क्रीडा भी मनोरंजन का एक प्रमुख साधन था। अति प्राचीन काल से भारत में लोग द्यूत–कीड़ा प्रेमी थे। लोग दूर–दूर से जुआ खेलने के लिए एकत्र हुआ करते थे।[1] राजा–महाराजाओं के यहाँ द्यूत–कीडा के लिए द्यूत–शाला हुआ करती थी। जिसमें पदानुसार बैठने के लिए आसन लगा रहता था।[2] राजा–पुरोहितों के चाँदी के फलक पर सोने के पासे से खेलने का उल्लेख आया है।[3] लित्त जातक में एक कुटिल जुआरी का प्रसंग है जो जीत होने पर तो धाँधली न करता, लेकिन जब हार होती दीखती, तो गोटी को मुँह में डाल, गोटी खो गई कहकर, खेल में धाँधली मचा कर चल देता था।[4] एक स्थल पर मालिक, सावट, बहुल, शान्ति, भद्र आदि चौबीस पासे गिने गये है। कभी–कभी गीत गाते हुए लोग पासे फेकते थे।[5]

विनयपिटक के चुल्लवग्ग में विभिन्न प्रकार के जुओं के नाम मिलते हैं– अष्टपद, दशपद, शलाकाहस्त, अक्ष, पंगचीर, वकक, मोक्खीचक, त्रिगुलक, अक्षरिका, मनेसिका।[6] इसी प्रकार की एक सूची दीघ–निकाय के सामञ्जफल सुत्त में मिलती है।

---

१. सुसन्धिजातक, जातक संख्या ३६०

२. विधुर जातक, जातक संख्या ५४५

३ अंडभूत जातक, जातक संख्या ६२

४. लित्त जातक, जातक संख्या ६१

५. अडभूत जातक, जातक संख्या ६२

६. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, १/३/१, दीघ–निकाय, सामञ्जफल–सुत्त, पृ० २५

उद्यान-क्रीड़ा

दैनिक जीवन की आपा–धापी से मुक्त हो शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति एवं शान्ति प्राप्त करने हेतु बुद्धयुगीन समाज में लोग प्रकृति के सुरम्य वातावरण के आश्रय में जाते थे। पालि साहित्य में राजा–महाराजाओं, राजकुमारो, श्रेष्ठि–पुत्र एवं पुत्रियों के बड़े वैभव के साथ उद्यान में मनोविनोद हेतु जाने के प्रसंग मिलते है।[१]

उद्यान–क्रीडा के लिए जाने के पूर्व वहाँ माली उद्यान की सफाई आदि करते थे।[१] ग्रामवासी मार्ग ठीक करते थे[२] तब नरेश अपनी मण्डली सहित उद्यान में प्रवेश करता था। राजा उदयन शराब के नशे में, अपने अनुयायियों के साथ उद्यान क्रीडा के लिए पहुँचा वहाँ एक शिला पर स्त्री की गोद में सिर रखकर, गायन एवं वादन करती स्त्रीयों से घिरा, सो गया।[३] विकण्णक जातक में उल्लेख आया है कि काशी नरेश के उद्यान में पहुँचने पर नृत्य गीत में कुशल लोगों ने नाचना–गाना प्रारम्भ कर दिया। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उद्यान में गायन–वाद–नृत्य का भी आनन्द लिया जाता था।[४]

पुरुष ही नहीं स्त्रीयाँ भी उद्यान–क्रीड़ा हेतु जाया करती थी। वाराणसी के सेठ की कन्या दिट्ठमंगलिका दो माह में एक बार उद्यान क्रीड़ा के लिए जाती थी। उद्यान में भोजन एवं मद्यपान आदि के व्यवस्था रहती थी। दिट्ठमंगलिका को मार्ग में एक चण्डाल मातंग दिख जाने पर उसे अपशकुन मान वापस लौट गयी। श्रेष्ठी कन्या के अनुयायियों ने क्रुद्ध होकर उस चण्डाल को खूब पीटा, क्योंकि वे मुफ्त के भोजन एवं शराब से वंचित रह गये थे।[५]

---

१. चुल्लबोधि जातक, जातक संख्या ४४३

२. महाउम्मग्ग जातक, जातक संख्या ५६४

३. मातंग जातक, जातक संख्या ४६७

४. विकण्णक जातक, जातक संख्या २३३

५. मातंग जातक, जातक सख्या ४६७

वन–खण्ड में भी लोग मौज–मस्ती के लिए जाते थे। बनारस के तीस मित्र अपनी–अपनी–स्त्रीयों के साथ वन–खण्ड में मनो–विनोद के लिए गये थे। उन मित्रों में एक अविवाहित था अत. उसके लिए वेश्या लायी गयी। जब सारे लोग नशे में मदहोश थे तो वो वेश्या सबका सामान, आभूषण आदि लेकर भाग गयी।[१]

जल-क्रीड़ा

मनोरंजन का एक साधन जल–क्रीड़ा भी था। प्रायः जल–कीडा उद्यान–कीड़ा दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित दिखाई देतें है क्योंकि उद्यान में ही पुष्करिणी रहती थी।[२] कलण्डुक जातक में उल्लेख आया है कि श्रेष्ठी कलण्डुक जल कीड़ा की इच्छा से बहुत सारा माला–गन्ध–विलेपन तथा खाद्य–भोज्य ले नदी के तट पर गया।[३] राजा लोग रानियों एवं अनुचरों के साथ जलक्रीड़ा हेतु नदी या पुष्करणी के तट पर जाते थे।[४] नदी तट पर कभी कभी पूरा मण्डप भी सजवा दिया जाता था जहाँ भोजन आदि की पूरी व्यवस्था रहती थी।

जातकों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जलक्रीड़ा करते समय कोई तीव्र औषधि युक्त दूध को पिया जाता था जिसमें सारे दिन जलकीड़ा में थकान नही महसूस होती थी।[५] इस प्रकार के मनोविनोद भिक्षु–भिक्षुणियों के लिए निषिद्ध थे।[६]

---

१. विनयपिटक, १/१/१३

२. महासार जातक, जातक संख्या ९२, विकण्णक जातक, जातक संख्या २३३

३. कलण्डुक जातक, जातक संख्या १२७

४. महासार जातक, जातक संख्या ९२

५. कलण्डुक जातक, जातक संख्या १२७

६. विनयपिटक, हि०अ०, पृ० ६१

खेल-तमाशा

पालि ग्रन्थों मे लोगों के मनोरंजन हेतु अनेकानेक प्रकार के खेल–तमाशों के आयोजन का उल्लेख आता है। इन प्रदर्शनों की उत्सवो–महोत्सवों पर विशेष धूम रहती थी। दीघ–निकाय के ब्रह्मजाल, सुत्त में इन दर्शनों की एक सूची दी हुई है–'नृत्य, गीत, बाजा, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घडे पर तबला बजाना, गीत मण्डली, लोहे की गोली का खेल, बांस का खेल, धोपन, हस्ति–युद्ध, अश्वयुद्ध, महिष युद्ध, वृषभ युद्ध, बकरों का युद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों का लडाना, बत्तक का लड़ाना, लाठी का खेल, मुष्टि–युद्ध, कुश्ती, मार–पीट का खेल, सेना, लडाई की चालें इत्यादि।'[१] विशेष लोकप्रिय खेल–तमाशे निम्न रूप से उल्लिखित हैं–

संपेरा

विभिन्न प्रकार के खेल–तमाशों में सपेरों का सर्प–नृत्य एक प्रमुख खेल था। सपेरे दिव्य औषध एवं मन्त्र जाप आदि के द्वारा जहरीले सर्पो को अपने वशीभूत कर उनके विषैले दाँत तोड़ देते थे।[२] सर्पो को लताओं की टोकरी में रखा जाता था और वे सपेरों के इशारे पर अपना नित्य दिखाते थे जिसको देखने के लिए बड़ा जनसमुदाय उमड पड़ता था। प्रत्यन्त गॉव से लेकर राजप्रसादों तक सपेरे तमाशा दिखाते थे। सीलवीमस जातक में सपेरे द्वारा सॉप को पूछ से पकड़कर लटकाने, गरदन में डालने एवं लपटने का वर्णन है।[३]

---

१. दीघ–निकाय, ब्रह्मजाल सुत्त, १/१

२. चम्पेय्य जातक, जातक संख्या ५०६

३. सीलवीमंस जातक, जातक संख्या ८६

कुछ सपेरे अपने प्रदर्शन पर बहुत मालामाल भी हो जाया करते थे। इस प्रकार के सपेरे सॉपो को लताओं की टोकरी में न रखकर रतन निर्मित टोकरी में रखते एवं सुन्दर रथों में रेशमी वस्त्र पहन कर यात्रा किये करते थे।[1] कभी–कभी सपेरे सर्प के साथ साथ अन्य पशु–पक्षियों का प्रदर्शन भी करते थे। सालक जातक में उल्लेख आया है कि सपेरे ने एक वन्दर को भी प्रशिक्षित कर लिया था एवं सर्प तथा बन्दर का तमाशा दिखाता हुआ जीविका चलाता था।[2]

वाजीगर

वजीगर एवं नट विभिन्न प्रकार के करतबों का प्रदर्शन कर लोगों का मनोरंजन करते थे। ये लोग प्रायः परम्परागत रुप से पैतृक व्यवसाय को अपनाते थे एवं अपनी कला का पूरा प्रशिक्षण लेते थे।[3] इनकी पहुँच सर्वत्र रहती थी। ये एक स्थान से दूसरे स्थान ग्राम–निगम राजधानियों में घूमते हुए लोगों की भीड़ एकत्र कर अपना तमाशा दिखाते थे।[4] ये प्रायः अपने करतबों के प्रदर्शन के साथ–साथ वीणा आदि वाद्यों के साथ गीत भी गाते थे।[5] धम्मपद में एक कुशल वाजीगर कन्या का प्रसंग आया है जो आश्चर्य जनक करतब दिखलाती थी एवं प्रतिवर्ष राजगृह में होने वाले उसके खेल को देखने के लिए बड़ी संख्या में जन–समुदाय उमड़ पड़ता था। स्पष्ट है केवल पुरुष ही नहीं स्त्रीयॉ भी कुशल नटी हुआ करती थी।[6]

---

१. भूरिदन्त जातक, जातक संख्या ५४३, सीलमीमंस जातक, जातक संख्या ८६

२. सालक जातक, जातक संख्या २४६

३. दुव्वच जातक, जातक संख्या ११६,

४. कणवेर जातक, जातक संख्या ३१८

५. पदकुसल माणव जातक, जातक सख्या ४३२, कणवेर जातक, जातक संख्या ३१८

६. पदकुसल माणव जातक, जातक संख्या ४३२

मल्लयुद्ध

पालि ग्रन्थों में मल्ययुद्ध का स्थान–स्थान पर उल्लेख मिलता है। समय–समय पर मल्लयुद्ध का आयोजन किया जाता था! इसके लिए कुश्ती मण्डप बनवा, अखाड़ा तैयार किया जाता था फिर कुश्ती–मण्डप को सजवा कर जय–पताका बन्धवाई जाती थी। बड़ी संख्या में लोग चारो ओर से घेर कर मल्ल–युद्ध (कुश्तीबाजी) को देखा करते थे। अखाड़े में पहलवान इत्र, माला धारण कर चन्दानादि शरीर पर लिप्त कर कूदते, गरजते एवं थापी मारते हुए विचरण करते थे।[१] पहलवानी का कार्य स्त्रीयॉ भी करती थी। विनयपिटक में एक मल्ली (पहलवान स्त्री) का उल्लेख आया है जो बाद में प्रव्रजित हो गयी।[२]

---

१. घ्रत जातक, जातक संख्या ४५४

२. विनयपिटक, १०/४/१२

अध्याय-७

उपसंहार

उपसंहार

बुद्ध युग भारतीय इतिहास में द्वितीय नगरीकरण का काल कहलाता है परन्तु गंगा के मैदानी इलाकों में यह प्रथम शहरीकरण था। प्रारम्भिक पालि साहित्य में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी वैशाली, मिथिला, आदि अनेकानेक नगरों के अस्तित्व के साक्ष्य मिलते हैं। इन महानगरों–नगरों में बड़ी समृद्धि, सुख एवं चहल–पहल व्याप्त थी। कुशावती नगरी के रुप में दीघा–निकाय में नगरों के ऐश्वर्य एवं वैभव की झाँकी प्रस्तुत की गई है। 'कुशावती नगरी समृद्ध थी, उन्नतिशील थी, बहुत आबादी वाली, गुजलार थी, सुभिक्ष थी। ... ,..... कुशावती राजधानी दस शब्दों से रात–दिन सदा भरी रहती थी, जैसे हाथी के शब्द, अश्व–शब्द, रथ–शब्द, भेरि शब्द, मृदङ्ग शब्द वीणा–शब्द, झांझ शब्द, ताल–शब्द, शंख–शब्द, "खाओ" "पिओ" के शब्द।' लोहे के प्रचलन ने इन नगरों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लौह–हथियारों से गंगा के जलोढ़ मैदानों के घने जंगलों की सफाई की गई एवं लोह निर्मित विभिन्न कृषि उपकरणों के द्वारा कृषक अब बहुत अधिक अन्य उत्पादन करने लगा। कृषक के अपने परिवार के भरण–पोषण के बाद बचे अनाज से नगर में रहने वाले शासकों, पुरोहितों, शिल्पीयों, व्यापारियों, सिपाहियों एवं सन्यासियों की बड़ी जमात का पोषण होने लगा। फलतः नगर, महानगर, महाजनपद, बड़े–बड़े राजतन्त्रों–गणतन्त्रों का अस्तित्व कायम हो सका।

ग्रामीण बस्तियों का भी विस्तार हुआ। पालि साहित्य में अनगिनत गॉवों का उल्लेख हुआ है। अनेक प्रकार के गॉव बसे। साहित्य में स्थायी गॉव, अस्थायी गॉव, सजातीय गॉव, एक ही पेशे से सम्बद्ध गॉव, द्वार ग्राम, निगम ग्राम आदि का उल्लेख मिलता है। सम्पन्न गॉवों के लिए साहित्य में ''जनाकीर्ण तृण–काष्ठ–उदक धान्यसम्पन्न'' जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। कृषि के विस्तार, अन्न के प्रभूत उत्पादन, विभिन्न व्यवसाय–शिल्पों की प्रगति से इनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ हुई। निगम की स्थिति गॉव एवं नगर के मध्य की थी जहॉ वाणिज्यिक गतिविधियॉ ग्राम की अपेक्षा तीव्रतर थी।

जीवकोपार्जन का सबसे प्रमुख साधन कृषि था। सभी जाति एवं वर्ग के लोग इसमें संलग्न थे। कृषि विकास पर ध्यान देना राजा का एक प्रमुख कर्तव्य था। एक जातक कथा में राजा एवं उसके आमात्यों द्वारा बुवाई के उत्सव में खेत जोतने का वर्णन का आया है। लोहे के फाल, फरसा, कुदाल, निखादन आदि कृषि उपकरणों की आपूर्ति ने आर्थिक क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन किये। यद्यपि लोहे का ज्ञान भारतवासियों को बुद्ध–युग पूर्व ही हो गया था परन्तु ई०पू० छठी शती के आस–पास ही यह सामान्य प्रचलन की धातु बन पायी। गंगा के मैदानी इलाकों के घने जंगलों को लोहे के उपकरणों से साफ किया गया। बौद्ध साहित्य में जंगलों की सफाई के उपरान्त वहॉ कृषि कार्य प्रारम्भ करने के साक्ष्य मिलते है। इन जंगलों को केवल जलाने से नष्ट नहीं किया जा सकता था। लोहे की कुल्हाड़ी या कुदाल से पेड़ की ठूॅठ एवं जड़ को समाप्त किया गया। इस युग का सबसे लोकप्रिय खाद्यान्न चावल था। चावल की विभिन्न किस्मों एवं व्यंजनों का उल्लेख साहित्य में सहज ही दृष्टव्य है। इसकी उत्तम फसल प्राप्त करने के लिए गहरी जुताई की आवश्यकता होती है जो लकड़ी के फाल द्वारा पूर्वी उत्तर

प्रदेश एवं बिहार की सख्त भूमि पर असम्भव थी। लोहे के फाल द्वारा ही यह सम्भव हो सका। सुत्त–निपात, सयुक्त–निपात एवं सूची जातक लोहे के फाल के प्रयोग के स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करते है। धान की विभिन्न किस्मों के अलावा, जौ, गेहूँ, सावॉ, टॉगुन, चीना (–चेना), कोदो एवं दालों में मूँग, उड़द, कुलथी, मसूर एवं मटर का उत्पादन होता था। ईख भी बड़े पैमाने पर पैदा की जाती थी, जिसकी उत्तम पैदावार लोहे के फाल से गहरी जुताई करके प्राप्त की गई। विनयपिटक मे गुड के घड़ो से भरी पॉच सौ गाडियों को व्यापार हेतु जाने का विवरण मिलता है।

कृषि कार्य में पशु–धन की उपयोगिता स्पष्ट हो गयी थी। इसके अतिरिक्त बोझा–ढोने, परिवहन खाल, बाल, दूध–दही, मांस के लिए तथा युद्ध एवं शान्ति में विभिन्न पशुओं का विविध प्रकार से उपयोग किया जा रहा। था आर्थिक उन्नति के लिए इनका संरक्षण आवश्यक था। यही प्रमुख कारण था, जिसके लिए महात्मा बुद्ध ने यश आदि में इनकी निरर्थक हिंसा पर बड़ा झोभ व्यक्त किया है। गाय को माता–पिता एवं भाई–बन्धु के समान मनुष्य का परम मित्र एवं अन्न, बल तथा सुख का दाता कहा गया है। देश में पैमाने पर गो–पालन किया जाता था। मेंडक गृहपति ने इस कार्य हेतु साढ़े बारह सौ गोपालकों को नियुक्त किया था। प्रारम्भिक पालि साहित्य में स्पष्ट है कि दूध, दही, मक्खन, घी, मण्ड का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था।

कृषि–कार्य में बैल का अत्यधिक महत्व था। संयुक्त–निकाय में बैल को प्राणियों में सहायक कहा गया इसके साथ ही साथ ढुलाई का अधिकांश कार्य बैलों से ही लिया जाता था। पशु–पालकों को इस बात के लिए विशेष सचेत रहना पड़ता था कि उनके पशु कही खड़ी

फसल को हानि न पहुँचा दे। पशुओं को लेकर वे प्रायः जंगलों में जाते थे क्योंकि कृषि भूमि के विस्तार के कारण गॉव में चारा प्राप्त करना कठिन होता जा रहा था। गाय एवं बैल के अतिरिक्त हाथी, घोडे, भेड, बकरी, गधे, कुत्ते एवं सुअर का भी पालन किया जाता था। हाथी एवं घोड़े राजकीय महत्व के पशु थे। राजकीय संरक्षण में हस्तिशाला, हस्ति–वैद्य एवं हस्ति शिक्षक विद्यमान रहते थे। हाथी युद्ध में बडा उपयोगी था इसके अतिरिक्त सम्भ्रान्त वर्ग द्वारा इसकी पीठ पर सवारी भी की जाती थी। हाथी–दॉत भी एक मूल्यवान वस्तु था। उत्तर–पश्चिम भारत मे श्रेष्ठ नस्ल के घोड़े पाये जाते थे। वहॉ के घोड़े की पूरे देश में मांग थी। उत्तरापथ के घोड़ों की बिकी का एक प्रमुख बाजार बनारस में था। घोड़े मुख्यतः पीठ की सवारी, रथ की सवारी एवं रण–क्षेत्र में काम आते थे। बकरी, सुअर एवं भेड़ की उपयोगिता अपने मांस के कारण थी। बकरी का दूध भी पीया जाता था। इसके अतिरिक्त भेड़ के बाल से निर्मित ऊनी वस्त्रों का बडा चलन था।

द्वितीय नगरीकरण के इस युग में विभिन्न प्रकार के उद्योगों में अभूतपूर्व प्रगति आई एवं जीविका के अनेकानेक साधनों का विकास हुआ। कृषि क्षेत्र में तो लौह–धातु की भूमिका स्पष्ट की जा चुकी है। अन्य क्षेत्रों में भी यह अपनी उपयोगिता प्रमाणित कर रहा था। लौह पात्रों का प्रयोग जनसामान्य के साथ–साथ भिक्षु–भिक्षुणी का समुदाय भी करता था। इसके दो स्पष्ट कारण थे एक तो लौह वस्तुओं की जीवनावधि बहुत अधिक थी, दूसरे ये अपेक्षाकृत सस्ते भी थे। लोहे से विभिन्न अस्त्र–शस्त्र बर्छी, कूट, वाण, शूल, तीर, कवच आदि, सिलाई के उपकरण– सूई कैंची आदि एवं स्थापित्य के क्षेत्र में– प्राकार, गृह, सिटकनी, कील आदि निर्मित किये जाते थे। सुवर्ण एवं रजत बहुमूल्य धातुयें थी, अतः यह मुख्यतः धनाढ्य वर्गो द्वारा

प्रयोग में लायी जाती थी। चांदी की तुलना में सुवर्ण अधिक लोकप्रिय था। स्त्री–पुरुष ही नही राजा–महाराजाओं के यहॉ हाथी, गौ, अश्व भी सुवर्णालंकारों से सुसज्जित रहते थे। मुद्रा के रूप में सुवर्ण का प्रयोग मँहगे सौदें के देन–लेन में होता था। अनाथपिण्डिक ने 'हिरण्य' से भरी कई गाडियों से जेत राजकुमार से जेतवन् क्रय किया था।

वस्त्र–उद्योग तत्कालीन समय का एक प्रमुख उद्योग था। काशी, खोम, कोटुम्बर, गन्धार इसके प्रसिद्ध केन्द्र थे। इनमें काशी के वस्त्र सबसे अधिक मूल्यवान एवं उत्तम कोटि के होते थे। यहॉ के सूती एवं रेशमी वस्त्र विशेष रूप से विख्यात थे। ऐश्वर्यमय वस्तुओं यथा प्रासाद गाय, के साथ काशी के वस्त्रों की गणना की गई है। विनयपिटक में रंगाई के शिल्प पर विस्तार से प्रकाश पडता है। कुम्भकार मिट्टी के वर्तन, घड़े एवं खिलौनों का निर्माण करते थे जिनकी समाज में बड़ी मांग थी। आज की ही भॉति चाक पर मिट्टी की वस्तुएं बना कर उन्हें आँव में पकाया जाता था। मृण्मय पात्रों एवं खिलौनों पर विविध प्रकार की चित्रकारी एवं रंगाई की जाती थी। बढ़ई काष्ठ से घर, रथ, नाव जैसे बड़ी एवं मूल्यवान वस्तुओं के साथ–साथ कृषि एवं वस्त्र–उद्योग के लिए विभिन्न उपकरण, खिलौने, पात्र, चारपाई, पीढ़ा, पादुका आदि का निर्माण करते थे। दन्तकार हाथीदॉत से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाया करते थे। इसके अतिरिक्त रथ एवं पंलग आदि की सजावट में भी हाथी दाँत प्रयुक्त होता था। बुद्ध युगीन समाज में मांसाहार–प्रियता ने शिकारियों के व्यवसाय को पनपने का अच्छा अवसर दिया। शिकारी जंगलों में पशु–पक्षियों का शिकार कर, उन्हें वेचकर अपनी आजीविका चलाते थे। पशु–पक्षीयों की बहुलता होने पर शिकारी जंगलों के समीप, वही अपना ग्राम बसा लेते थे। इसी प्रकार मछुआरे नदी एवं जलाशय से मछली पकड़ उन्हें बेचकर अपना निर्वाह करते थे।

जातक कथाओं से शिकारियो एवं मछुआरों की कार्यविधि पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है। यद्यपि बौद्ध साहित्य में इस प्रकार से क्रूर-कर्म करने वालों की निन्दा की गई है। चिकित्सा-कार्य द्वारा जीविकोपार्जन करना एक सम्मानजन पेशा था। कुशल चिकित्सक राजपरिवार की सेवा मे नियुक्त होते थे। शल्य-क्रिया भी की जाती थी। चिकित्सा कार्य के बदले चिकित्सक बहुमूल्य उपहार एवं फीस के रूप में मुद्राराशि प्राप्त करता था। नाई, लोगों के हजामत एव केश बनाने का कार्य करता था। राजा के व्यक्तिगत सेवकाई का कार्य भी नाई किया करते थे। सम्भ्रान्त वर्ग के घरों में भोजन-निर्माण हेतु रसोइये रक्खे जाते थे। प्रधान रसोइये के साथ उनके कार्य में सहायता देने के लिए सहायक व्यक्ति भी रहा करते थे। इस काल में दर्जी के पेशें में भी प्रगति दिखाई देती है। गॉव की अपेक्षा नगर के दर्जी वस्त्रों की सिलाई अधिक सुघडता से करते थे। पुष्पो का प्रयोग विविध रुपों में समाज में किया जाता था। मालाकार विभिन्न प्रकार के पुष्पाभूषण निर्मित करते थे। पूजा हेतु भी फूलों का प्रयोग किया जाता था। समाज का एक वर्ग राजकीय सेवाओं के माध्यम से जीविकोपार्जन करता था। विभिन्न राजकीय कर्मचारियों का उल्लेख प्रारम्भिक पालि साहित्य में मिलता है। राजा, उपराजा, पुरोहित, सेनापति, कोषाध्यक्ष-श्रेष्ठी, न्यायाधीश, रज्जुग्राहक, विविध प्रकार के आमात्य उच्च पदस्थ अधिकारी थे। इसके अलावा द्वारपाल, सारथी, नगर-कोतवाल, सन्देशवाहक, भण्डागारिक एवं बड़ी मात्रा में विभिन्न प्रकार के सैनिक कर्म करने वाले जैसे हस्ति-सैनिक, अश्व-सैनिक, व्यूह रचना करने वाले सैनिक आदि भी नियुक्त किये जाते थे। दूसरों का बहुभॉति मनोरंजन कर जीवन यापन करने वालों का भी एक वर्ग था जिनमें गन्धर्व, मल्ल, नट-नटी, संपेरा प्रमुख थे।

व्यापार एव वाणिज्य की दृष्टि से बुद्ध कालीन भारत भारतीय इतिहास का एक अति महत्वपूर्ण चरण माना जाता है। बड़े व्यापारी अकूत धन—सम्पदा के स्वामी होते थे। शासन पर भी इनका प्रभाव होता था। बाजार दुकानें गाँव एवं शहरों में जगह—जगह विद्यमान थी जिनमें जनसामान्य की आवश्यकता की सभी वस्तुऐं सुलभ थी। कभी कभी पूरे—पूरे गाँव एवं गली में एक ही वस्तु का विक्रय किया जाता था। वैहंगी एवं गाडियों पर भी माल लादकर, बेचा जाता था। कुछ छोटे व्यापारी दरवाजे—२ जाकर आवाज देते हुए अपना सौदा बेचते थे। बड़े व्यापारी गाड़ियों मे माल लदवाकर सुदूर स्थानों पर आया—जाया करते थे। अन्तर्देशीय एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापारों में, कुछ मार्गों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका थी। सबसे विख्यात महापथ 'उत्तरापथ' था जो राजगृह से प्रारम्भ होकर वैशाली, नालंदा, पाटलिपुत्र, वाराणसी, प्रयाग, कान्यकुब्ज, संकाश्य, सोरों, वेरंजा, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, शाकल होते हुए तक्षशिला तक जाता था। इस मार्ग पर व्यापारियों एवं विद्यार्थियों की विशेष चहल—पहल रहती थी। उत्तर से दक्षिणपूर्ण जाने वाला मार्ग (अर्थात् राजगृह से श्रावस्ती) एवं दक्षिणापथ मार्ग (अर्थात् श्रावस्ती से प्रतिष्ठान), तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग थे। देश के सभी व्यापारिक केन्द्र इन मार्गों से सम्बद्ध थे। स्थल—मार्ग के सुदूर व्यापार में बैलगाड़ी ही परिवहन का सबसे प्रचलित साधन थी। नदी एवं समुद्री मार्गो के द्वारा भी व्यापार होता था। नदी मार्गों में, गंगा एवं यमुना महत्वपूर्ण जलमार्ग प्रस्तुत करती थी। समुद्री मार्ग मुख्यतः विदेशी व्यापार के साधन थे। बेबिलोन, सुवर्णभूमि एवं ताम्रलिप्ति आदि देशों के साथ भारत के प्रगाढ़ व्यापारिक सम्बन्ध थे। समुद्री यात्रा में अति विशालकाय नौकायें प्रयुक्त होती थी जिनमें सैकड़ों व्यक्ति एक साथ यात्रा करते थे। भरूकच्छ, सुप्पारक, करम्बिय, गम्भीर, सेरिव भारतीय समुद्रतटों पर स्थित प्रमुख बन्दरगाह थे। थल एवं

जलमार्गों की सुदूर यात्रायें निर्बाध नहीं थी। थल मार्ग में पानी का अभाव, भोजन की कमी, चोर–डाकुओं का आतंक, विषैले पेड़–पौधे, रेतीली तप्त भूमि आदि कठिनाइयॉ थी। ऐसे संकट की घडी में 'सार्थवाह' अपनी सूझ–बूझ से यात्रियों की प्राण–रक्षा करता था। इसके अतिरिक्त वन पथो में सुरक्षा एवं सहायता हेतु वन–रक्षकों की भी सेवायें ली जाती थी। जल मार्ग के खतरे और भी गम्भीर थे। जहाजों में छेद होने एवं डूब जानें की घटनायें प्रायः घटित होती रहती थी। जल भॅवर, भीमकाय समुद्री जीव भी समुद्री–यात्रियों के प्राणों को संकट पैदा कर देते थे। ऐसी विकट स्थितियों में ज्येष्ठ नाविक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए यात्रियों को संकट–मुक्त करने का प्रयास करते थे। प्रायः ऐसी परिस्थिति में प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में दैवी शक्तियों द्वारा व्यापारियों की प्राणरक्षा करने का उल्लेख मिलता है।

इस युग की प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं में खाद्यान्न, रेशमी वस्त्र, सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, सुगन्धित वस्तुऐं, जवाहरात एवं सुवर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं से निर्मित वस्तुयें, हाथीदॉत के सामान, साग–सब्जी, घोड़े, पक्षी, शराब, मृण्पात्र, माँस–मछली की गणना की जा सकती है। इन युग में मुद्रा एवं ऋण के चलन एवं श्रेणी संगठन ने व्यापारिक प्रगति में बडी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। धनाढ्य श्रेष्ठी छोटे व्यापारियों को ऋण वितरित किया करते थे इसके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से भी व्यापारी ऋण लिया करते थे। कभी–२ राजकीय सहायता रूप में भी व्यापारियों को व्यापार हेतु पूँजी प्राप्त हुआ करती थी। विकसित अर्थतन्त्र में केवल वस्तु–विनमय प्रणाली से काम नहीं चल सकता। मुद्रा का चलन इस युग की अपनी विशिष्टता है। सबसे प्रचलित सिक्का कार्षापण था, पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि ये रजत एवं ताम्र निर्मित हुआ करते थे। मूल्यवान् सौदों एवं दानादि में हिरण्य एवं निष्क नामक

स्वर्णमुद्राये प्रचलित थी। अर्द्ध–कार्षापण, पाद, मासक, अर्ध–मासक एवं काकणिका का प्रयोग भी मुद्रा के रूप में होता था। संगठन एवं सहयोग, इस युग के आर्थिक क्षेत्र की विशिष्टता थी विभिन्न व्यवसायियों ने अपने–अपने संगटन बना लिये थे जो 'श्रेणी' नाम से जाना जाता था। जातक कथाओं में अट्ठारह प्रकार के शिल्पकारों की श्रेणियों का उल्लेख आया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य व्यवसायियों के भी इसी प्रकार के संगठन कार्यरत थे। इन संगठनों के प्रधान को 'जेठ्ठक' या 'प्रमुख' कहा जाता था। व्यापारिक 'श्रेणियो के प्रधान को 'श्रेष्ठी' कहा जाता था। इन श्रेष्ठियो की आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति बड़ी सम्मानजनक थी। श्रेणी–मुख्यों को कुछ न्यायायिक एवं प्रशासनिक अधिकार भी प्राप्त थे।

खान–पान के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम–निषेध नहीं दिखायी पड़ता। अन्नाहार का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता था परन्तु समाज में मांसाहार का भी खूब प्रचलन था। मद्यपान भी किया जाता था। यद्यपि मांसाहार एवं मादक पेय पदार्थ का प्रयोग समाज के सभी वर्गों द्वारा किया जाता था परन्तु इसके विरोध में भी स्वर साहित्य में कहीं कहीं सुनाई पड़ता है। बुद्ध युग में आमोद–प्रमोद के विभिन्न साधन प्रचलित थे। गायन, वादन, नृत्य के संगीतमय कार्यक्रम का आनन्द समाज के सभी वर्ग के लोग लेते थे। अनेक प्रकार के उत्सवों का आयोजन होता था जिसे लोग बड़ी धूमधान से मनाते थे। सुरामहोत्सव एवं अन्य उत्सवों में कभी–कभी स्त्री–पुरुष दोनो अनियंत्रित मद्यपान का आनन्द लेते थे। द्यूतक्रीड़ा, जलक्रीडा, उद्यान क्रीडा, सर्प–नृत्य, नटों के करतब, मल्लयुद्ध मनोरंजन के अन्य प्रमुख प्रचलित साधन थे।

बुद्ध का युग सामाजिक एवं सास्कृतिक परिवर्तन का युग था। इसमें ग्रामीण समाज के साथ–साथ नगर एव नागरिक जीवन का विकास सामने आता है। ग्राम जीवन में भी पशु–पालन से अधिक महत्व अब कृषि व्यवसाय का दीखता है। जनसंख्या की वृद्धि परिलक्षित होती है। नगर जीवन उद्योग और व्यापार का विकास सूचित करता है। इस विकास के साथ मुद्राओ का प्रचलन भी प्रारम्भ हुआ और श्रेणियों की व्यवस्था और विकास देखनें में आते है। गणराज्य क्रमश: महाजनपदो को स्थान देते हैं और इस युग के शासक **व्यवसायिक सेना विशेषज्ञ**, प्रशासनिक सहायको से अपने प्रभुत्व को दृढ़ करते हैं। पुरानी ग्रामीण और गणव्यवस्था के बदलने से धर्म की नयी व्याख्या सामने आती है। पुराने देवताओं का यज्ञ प्रधान पूजन अब पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। प्रकृति एवं समाज के संचालक तत्व के रूप में धर्म को एक औपौरुषेय नियामक शक्ति के रूप में देखना आरम्भ होता है। मानव जीवन कर्म से संचालित होता है उसका बन्धन देवताओं को प्रसन्न करके नहीं काटा जा सकता इसके लिए तत्वज्ञान आवश्यक है। संसार स्वयं दुख रूप है, हेय है, उसे छोड़ कर सन्यास आश्रयनीय है।

इस प्रकार धर्म की व्याख्या के अब दो परस्पर विरुद्ध प्रकार उभरते है एक ओर पुरानी वैदिक ब्राह्मण परम्परा जो धर्म को विधि विधान कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम के द्वारा परिभाषित करती थी दूसरी ओर श्रमण परम्परा जो कि निवृत्ति मार्गी एवं ज्ञान मार्गी थी। यह ब्राह्मण श्रमण परम्पराओं का संघर्ष उसी युग का है जिस युग में नगर जीवन का उदय हो रहा था और गणराज्यों का ह्रास।

ग्रन्थ-सूची

मूल-स्रोत

विनयपिटक	हि०अ० राहुल सांकृत्यायन, बोद्ध आकर ग्रंथमाला, काशी विद्यापीठ, वाराणसी १९६४
दीघ–निकाय	सम्पा, भिक्षु जगदीश काश्यप, भाग १–३, नालन्दा, बिहार, १९५८, हि०अ० भिक्षु राहलु सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश काश्यप महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३६ ई०।
अंगुत्तर निकाय	सम्पा, भिक्षु जगदीश काश्यप, चार जिन्दों में प्रकाशित, नालन्दा, देवनागरी पालि सीरीज, १९६०, हि० अनुवाद, आनन्द कोसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७, जिल्द १, जिल्द २, १९५७, जिल्द ३, १९६३, जिल्द ४, १९६६
जातक	संपा, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, १९३७, खु०नि० खंड ३, भाग १, २, हि०अनु० आनन्द कौसल्यायन, खण्ड १ से ६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १९४१
संयुत्त–निकाय	संपा, भिक्षु जदीश काश्यप, भाग १ से ४ तक, नालन्दा, १९५६, हि०अ० भिक्षु जगदीश काश्यप त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, दो भाग में, महाबोधि सभा, सारनाथ बनारस, ई०स० १९५४।
मज्झिम निकाय	संपा, वी०पी० बापट एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, १९५६, हि०अ० राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३
खुद्दकपाठ	सम्पा०, भिक्षु जगदीश काश्यप खुद्दकनिकाय, खंड १, नालन्दा, बिहार, १९५६।
इतिवुत्तक	संपा, भिक्षु जगदीश काश्यप नालन्दा, बिहार, १९५६
उदान	सम्पा०, भिक्षु जगदीश काश्यप नालन्दा, बिहार १९५६, हि०अनु०, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।
अपदान	संपा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दक निकाय, खंड ६, नालन्दा, बिहार १९५५।
थेरगाथा	सम्पा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, भाग २, १९५६, हि०अनु० भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वारणसी, १९५५।
थेरीगाथा	संपा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड २, १९५६, हि०अनु० डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, थेरीगाथाएं, नई दिल्ली, निगाथा साहित्य मंडल १९३७।
पाराजिक	भिक्षु जगदीश काश्यप, (सम्पा०), नालन्दा, बिहार, १९५८, हि०अनु० राहुल सांकृत्यायन, विनयपिटक, सारनाथ, वाराणसी १९३५।

पेतवत्थु — सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, १९५६, नालन्दा, बिहार।

महानिद्देस — संपा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, १९५६।

विमानवत्थु — सम्पा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार।

धम्मपद — सम्पा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, १९५८, हि०अनु० भिक्षु धर्मरक्षित महाबोधी सभा, सारनाथ, वारणसी, १९५५।

चरिया–पिटक — (मूलपालि और हि०अ० सहित) अनुवादक, भिक्षु धर्मरक्षित, मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, कचौडी गली, बनारस, १९५४।

चुल्लवग्ग एव महावग्ग — भिक्षु जगदीश काश्यप, (संपा०), नालन्दा, बिहार, १९३७, हि०अनु० राहलु सांकृत्यायन, विनयपिटक, सारनाथ, विनयपिटक, सारनाथ, वाराणसी, १९३५।

सुत्त निपात — सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड १, नालन्दा, बिहार, १९५६, हि०अनु० जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, वाराणसी, १९५५।

बुद्धवंस — संपा०, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, १९५६।

एस० बी० ई० वाल्यूम — हरमन यकोबी

बाइस एवं पैतालीस

वाल्मीकि रामायण — गीता प्रेस, गोरखपुर

अर्थशास्त्र — आर० पी० काग्ड़े
तीन जिल्दों में, बाम्बे

सहायक ग्रंथ :

अग्रवाल, वासुदेव शरण : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, १९६४

एलेन जे : कैटलाग आव क्वाइन्स इन एन्शिएंट इंडिया, १९३०

अच्छेलाल : प्राचीन भारत में कृषि, वारणसी, १९८०

ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, १९६४

आद्या, जी०एल० : अर्ली इंडियन एकोनामिक्स, दिल्ली, १९६६

आयंगर, के०वी०आर० : आस्पेक्ट्स ऑफ ऐनशियन्ट इन्डियन इकोनामिक थॉट, बनारस, १९३४

अनस्टे, वीरा : गिल्डस–इडियन, इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सस, वाल्यूमा सात,

अप्पादुरई, ए : इकोनाम्कि कन्डीशनस्, इन साउथ इंडिया, २ वाल्यूम, मद्रास, १६३६

अग्रवाल, आर०एस० : ट्रेड सेटर्ल ऐंड रुट्स इन नॉरदर्न इंडिया, दिल्ली, बी०आर० पब्लिशिंग कारपोरेशन, १६८२

अग्रवाल, डी०पी० : दि कॉपर ब्रोंज एज इन इंडिया नयी दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल

अल्तेकर, ए०एस० : ए हिस्ट्री ऑफ इम्पारटेंट एशेंट टाउंस ऐंड सिटीज इन गुजरात ऐंड काठियावाड़, बम्बई १६२६

अयगर, के०पी० रंगास्वामी : ऐस्पेक्ट्स ऑफ एशेंट इंडियन एकोनामिक थाट, वाराणसी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १६३४

बाजपेई, कृष्णदत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, १६५१

बदोपध्याय, एन०सी० : इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐनशियन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १६५४

बनर्जी, एम०एन०, : मैटलस एण्ड मैटलर्जी इन इंडिया, आई एच क्यू ३

बरनेट, एल०डी० : कार्मिशयल एण्ड पालिटिकल कन्कशेन्स ऑफ ऐनशियन्ट इन्डिया विथ दी वेस्ट, BSOAS, I, १६१७

बाशम, ए०एल० : दि वन्डर दैट वाज इन्डिया, लन्दन, १६५४

बोस, ए०एन० : सोशल एण्ड रुरल इकोनामि ऑफ नार्दन इण्डिया, २ वाल्यूमस, कलकत्ता, १६४२–४५

वुच, एम०ए० : एकोनामिक लाइफ इन ऐनशियंट इंडिया, इलाहाबाद, २ वाल्यूमस १६७६

बन्दोपाध्याय, नारायण चन्द्र : एकनामिक लाईफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशेंट इंडिया, कलकत्ता, दि यूनिवर्सिटी, १६४५

बनर्जी, पी०एन० : ए स्टडी ऑफ इंडियन एकानामिक्स, लंदन, १६४०

बनर्जी, एन०आर० : दि आयरन एज इन इंडिया, दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, १६६५

वाशम, ए०एल० : अद्भुत भारत, आगरा, शिवलाल अग्रवाल ऐंड कंपनी, १६७२

बोस, ए०एन० : सोशल ऐंड रुरल इकानामी ऑफ नारदर्न इंडिया, कलकत्ता : युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, १६४५ खण्ड एक एवं खण्ड दो

भट्टाचार्य, एस०सी० : सम एस्पैक्ट्स ऑफ इंडियन सोसाइटी, कलकत्ता : फर्म के एल०एम० प्राइवेट लिमिटेड १९७८

बनर्जी, सुरेशचन्द्र · एस्पेक्ट्स ऑफ एंशेंट इंडियन लाइफ, कलकत्ता, पुंथी पुस्तक, १९७२

बर्डवुड, जी०सी०एम० : इन्डस्ट्रीयन आर्टस् ऑफ इन्डिया, रीप्रिन्ट, १९७१

चक्रवर्ती, हरिपद : ट्रेड एण्ड कामर्स ऑफ ऐनशियन्ट इन्डिया कलकत्ता, १९६६

चट्टोपाध्याय, बी० : ऐशेज इन ऐनशियंट इंडियन एकोनामिक हिस्ट्री, न्यू दिल्ली, १९८७

चक्रवर्ती, एस०के० : करेन्सी प्राब्लम्स इन एंशेट इंडिया, कलकत्ता, १९६६

डेविड्स, रीज : बुद्धिस्ट इंडिया, दिल्ली, पटना, १९७१, बुद्धिज्म इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर, लन्दन, १८८६

दास, बी०एस० : स्टडीज इन द एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ उडीसा, कलकत्ता, १९७८

दास, शुक्ला : सोशियो—एकोनामिक्स लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया (५५० ई० ६५० ईस्वी), न्यू दिल्ली, १९८०

डेविड्स, टी०डब्लू० राइस : बुद्धिस्ट इंडिया, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१

दास, एस०के० : एकनामिक हिस्ट्री ऑफ एशेंट इंडिया, इलाहाबाद, बोहरा पब्लिशसर एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर, १९८०

दूबे एस० एन० : क्रास करेन्ट ऑफ बुद्धिज्म

दास, दीपकरंजन : एकनामिक हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन, दिल्ली, मुंशीराम मनोहरलाल, १९६६

फिक्, आर० : इग्लिस—ट्रान्सलेशन, एस०के० मित्रा, कलकत्ता १९२०

फेयर सर्विस, वाल्टर ए० : 'दि रुट्स ऑफ एंशेट इंडिया', लंदन : दि यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, प्रेस, १९७५

गायगर, विल्हेलम : पालि लिटरेचर एण्ड लैग्वेज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५६

गोयल, श्रीराम : विश्व की प्राचीन सभ्यताएं, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९९०

गांगुली, के०के० : ज्वैलरी इन ऐनशिन्ट इंडिया, ISIA, X, १९४२

गोपाल, लल्लनजी . दिं एकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इंडिया, दिल्ली, १६६५; आस्पैक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ एग्रीकल्चर इन ऐनशियंट इंडिया, वाराणसी, १६८०,

गोपाल, एम०एच : मौर्यन पब्लिक फाइनेन्स, लन्दन १६३५

गुप्ता, परमेश्वरी लाल : क्वाइन्स, नयी दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, १६६६

घिल्डियाल, डॉ० अच्युतानन्द: प्राचीन राजवंश और बौद्ध धर्म (छठी शताब्दी ई०पू० से सातवीं शताब्दी तक) विवेक घिल्डियाल बन्धु, श्रीनगर गढवाल, वाराणसी १६७६

हुसैनी, एम०ए०क्यू० : इकानॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड एक, कलकत्ता, १६६३

इरविन, जे० : इन्डियन टैक्सटाइल इन हिस्टारिकल पर्सपैक्टीव, इन टैक्सटाइल्स एण्ड आर्नामैन्ट्स ऑफ इन्डिया, ई०डी० व्हीलर, न्यूयार्क, १६५६

जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम : विनयपिटक के आधार पर भारतीय भौतिक जीवन की एक झलक, जे०यू० पी०एच०एस०, १६५१–५२

जैन, बीना : गिल्ड आर्गनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इंडिया, दिल्ली, १६६०

जैन, कैलाशचन्द्र : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, भोपाल, मध्यप्रदेश छिंदी

जोशी, मुरलीधर : 'आर्थिक पद्धतियाँ', लखनऊ, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, १६६३

जैन, डॉ० कोमलचन्द्र : पालि साहित्य का इतिहास : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १६८७

जैन, जगदीश चन्द्र : ऐन्शैन्ट इण्डिया ऐज् डिफ्किटैड इन द जैन कैनन, बम्बई

कनिंघम, अजेक्जेडर : ज्योग्राफी आव एन्शियंट इंडिया का हिन्दी अनुवाद, प्राचीन भारत का भूगोल अनु० डॉ० जगदीश चन्द्र आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, १६७१

कनिंघम, अजेक्जेडर : क्वाइन्स आव एन्शियंट इंडिया फाम द अलीयेस्ट टाइम्स टू दी सेवेन्थ सेन्चुरी, प्रकाशित पत्र, लन्दन, १८६१

कुमारस्वामी, ए०के० : इन्डियन क्राफ्टस मैन, लन्दन, १६०६

खेर, एन०एन० : एग्रेरियन एण्ड फिसिकल एकोनामि ऑफ ऐनशियंट इंडिया, दिल्ली, १६७३

काणे, पी०वी० : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पूना, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्ज इंस्टीट्यूट, १९३०–४६

कृष्णाराव, एम०वी० : स्टडीज इन कौटिल्य, दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल, १९५८

लाहा, विमलाचरण : प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल रामकृष्ण द्विवेदी द्वारा अनुदित, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९७२

लॉ, बी०सी० : इंडिया ऐज डिस्क्राइण्ड इन अली टैस्टस् ऑफ बुद्धिजम एण्ड जैनिजम, लन्दन, १९४१

लिली, आर्थर : दी लाईफ ऑफ बुद्धा : सीमा पब्लिकेशनस् सी–३, १९, आर०पी० बाग, देलही ११०००७, प्रथम संस्करण १९७४

मिश्र, जयंशकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी, १९८०

मुखर्जी, राधाकुमुद : ए हिस्ट्री आव इंडियन शिपिंग, लन्दन, १९१२

मोतीचन्द्र : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग; सम्वत् २००७

महतो, एम०एल० : जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, १९५८

मिश्र, रमानाथ : प्राचीन भारतीय समाज, अर्थ–व्यवस्था एवं धर्म, भोपाल, १९९१

मिश्र, श्याम मनोहर : दक्षिण भारत का राजनैतिक इतिहास, नई दिल्ली, १९९५

मिश्र, सच्चिदानंद : प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, गोरखपुर, १९८४

मुकर्जी, आर०के : हिन्दू सभ्यता, दिल्ली, १९७५ चन्द्रगुप्त मौय और उसका काल, दिल्ली, १९९०

मैकडानेल, ए०ए० : वैदिक इनडैक्स ऑफ नेमस् एण्ड सब्जैक्ट्स २ वाल्यूमस, दिल्ली १९६७

मैती, एस०के० : अर्ली इन्डियन क्वाइन्स एण्ड करेन्सी सिटम, दिल्ली, १९७०

मजूमदार, आर०सी० : कारपोरेट लाइफ इन ऐनशियन्ट इंडिया, न्यू दिल्ली, १९९४

मैक्किन्डल, जे०डब्लू० : ऐनशियन्ट इंडिया ऐस डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड एरियन, लन्दन, १८७७

मेहता, आर०एल० : प्री–बुद्धिस्ट इंडिया, बाम्बे, १९३९

मिश्रा, जी०एस०पी० : द ऐज ऑफ विनया, दिल्ली, १९७२

मुखर्जी, आर०के० : हिस्ट्री ऑफ इन्डियन शिपिंग एण्ड मैरिटीम ऐक्टीवटी, लन्दन, १६१२

मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पटना, १६५३

मोतीचन्द्र : ट्रेड एण्ड ट्रेड रुट्स इन ऐनशियन्ट इन्डिया, नयी दिल्ली, १६७७

मजूमदार, आर०सी० एवं पुसालकर : इ०डी० (संपा) हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल : दि वैदिक एज, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, १६५७

मजूमदार, आर०सी० एवं पुसालकर : ई०डी० इ०डी० (संपा) हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल : दि वैदिक एज, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, १६६८

मजूमदार, आर०सी० एवं पुसालकर : ई०डी० इ०डी० (संपा) हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल : दि वैदिक एज, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, १६६८

मजूमदार, आर०सी० एवं पुसालकर : ई०डी० इ०डी० (संपा) हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल : दि क्लासिकल ऐज, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, १६६८

मजूमदार, आर०सी० एवं पुसालकर : ई०डी० इ०डी० (संपा) हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल : दि क्लासिकल ऐज, बम्बई : भारतीय विद्या भवन, १६७०

मजूमदार, रमेश चन्द्र : एंशेट इंडिया, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, १६५२

मिश्र, शिवशंकर : मुद्रा बैंकिंग एवं अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, १६७५

मिश्रा, सुदामा : जनपद स्टेट इन एंशेंट इंडिया, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, १६७३

मुकर्जी, राधाकमल : दि फाउन्डेशन ऑफ इंडियन इकनामिक्स लंदन : लागमैन्स ग्रीन ऐंड कंपनी, १६१६

मुकर्जी, आर०के० : इंडियन शिपिंग, इलाहाबाद, किताब महल, १६६२

मुकर्जी, आर०के० : चन्द्रगुप्त मौर्य ऐंड हिज टाइम्स, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, १६६६

मेहता, आर०एल० : प्री--बुद्धिस्ट इंडिया, बम्बई,१६३६

मिश्र, श्याम मनोहर : प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, प्रामानिक पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १६६७

निगम, श्याम सुन्दर : एकोनामिक आर्गनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इंडिया, दिल्ली, १९७५

नियोगी, एस०पी० : मर्चेन्ट्स इन वैदिक एण्ड हिरोइक इंडिया, मार्डन रिव्यू, ८३, १९५३

अर्पेट, जी० : ऑन दि ऐनशियन्ट कामर्स ऑफ इन्डिया, मद्रास, १८७९

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : फाउन्डेशन ऑफ इंडियन कल्चर वाल्यूम दो, डाइमैनस्न्स ऑफ ऐनशियन्ट इंडियन सोशल हिस्ट्री; मोतीलाल बनारसीदास पब्लिर्सस प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, १९७६

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ् बुद्धिज्म, इलाहाबाद, १९५७

पांडेय, जयनारायण : पुरातत्व विमर्श, इलाहाबाद, १९९५

पुसालकर, ए०डी० . एज ऑफ इम्परियल यूनीटि, १९६५, क्लासिकल ऐज, बाम्बे, १९६२

प्राणनाथ, : ए स्टडी इन द एकोनामिक कन्डीशन ऑफ इंडिया, रीप्रिन्ट, इलाहाबाद, १९८०

प्रसाद, बेनी : स्टेट इन ऐनशियन्ट इंडिया, इलाहाबाद, १९२३

प्रसाद, पी०सी० · फारन ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐनशियन्ट इंडिया, दिल्ली, १९७७

प्रकाश, बुध : इंडिया ऐंड दि वर्ल्ड, होशियारपुर, १९६४

प्रसाद, प्रकाश चरन : फारेन ट्रेड ऐंड कामर्स इन एशेंट इंडिया, नई दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन, १९७७

प्रसाद, बेनी : थ्योरी ऑफ गर्वन्मेंट इन एशेंट इंडिया, इलाहाबाद, सैंट्रल बुक डिपो, १९७४

प्राणनाथ, : ए स्टडी इन द एकोनामिक कन्डीशन ऑफ इंडिया, लंदन, रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९२९

फेयरसर्विस, वाल्टर ए० : दि रुटस ऑफ एशेंट इंडिया, लंदन दि यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, १९७५

रायचौधरी, हेमचन्द्र : पालिटिकल हिस्ट्री आव एन्शियंट इंडिया, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५३

राय, जैमल : द अर्बन–रुरल एकोनामि एण्ड सोशल चेन्जज इन ऐनशियन्ट इंडिया, वाराणसी, १९७४

राइस डेविड्स, टी० डब्लू . बौद्धभारत; हि० अ० ध्रुवनाथ चतुर्वेदी किताब महल, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद

रैपसन, ई. जे . इंडियन क्वाइन्स वाराणसी, इन्डोलॉलिकल, बुक हाउस, १९५९

राय, उदय नारायण : प्राचीन भारत के नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, हिन्दुस्तान एकेडमी, १९६५.

राव, एस. आर. . शिपिंग एण्ड मेरीटाइम ट्रेड ऑफ दि इंडस पीपुल्स, १९६५.

रिनपोछे, बेन समदोंड : दी सोसल फिलासफी ऑफ बुद्धिज्म के० उ० नि० शी० सस्थान, सारनाथ वाराणसी, प्रथम, संस्करण, १९७५.

राइज डेविडस, सी०एफ० : अली इकोनामिक कन्डीशन्स इन नार्दन इन्डिया, JRAS १९०१

शास्त्री, नीलकण्ठ : नन्द–मौर्य–युगीन भारत, वाराणसी, १९६९

शास्त्री, नीलकण्ठ : एज आफ नन्दाज एण्ड मोर्याज, दिल्ली, १९६७

सत्यप्रकाश : क्वाएनेज इन एन्शिएंट इंडिया, १९६८

सांकृत्यायन राहुल : बुद्धचर्या, सारनाथ, १९५१

श्रीवास्तव, कृष्णकुमारी : पालि जातक– एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९८४

शर्मा, रामशरण : प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९९२; प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, नयी दिल्ली, १९९३

सैलीतोर, आर० एन० : अर्ली इंडियन इकोनामिक हिस्ट्री, बाम्बे, १९७३

समदार, जे०एन० . लैक्चर्स आन एकोनामिक कन्डीशन ऑफ ऐनशियन्ट इंडिया, कलकत्ता, १९२२; इन्ड्रस्टिर्ल एण्ड ट्रेडिंग आर्गनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इंडिया, जे० बी० ओ० आर० एस० सात, (चार), १९२१

सामदार, जे०एन० : लैक्चर्स आन इकोनामिक कन्डीशन ऑफ ऐनशियन्ट इंडिया, कलकत्ता, १९२२; इन्ड्रस्टिर्ल एण्ड ट्रेंडिंग आर्गनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इंडिया JBORS, VII (IV), १९२१

शास्त्री, के० ए० एन० : (संपा०) कम्प्रीहैन्सीव हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, वाल्यूम दो, कलकत्ता, १९५७

शर्मा, ब्रिजेन्द्र नाथ : सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया, न्यू दिल्ली, १६७२

शर्मा, आर०एस० : प्रास्पैक्टीव्स इन सोशल एण्ड एकोनामिक लाइफ, बाम्बे, १६६६

सिह, एम०एम० : लाईफ इन ऐनशियन्ट इंडिया इन प्री मौर्यन टाइम्स, न्यू दिल्ली, १६५४

सरकार, डी०सी० : (संपा०) स्टडीज इन इंडियन क्वाइन्स, दिल्ली, १६६८

श्रीवास्तव, जी०पी० : ट्रैडिशनल फार्म आफ को–परेशन इन इंडिया, न्यू दिल्ली, १६६२

सुब्बाराव, एन०एस० : एकोनामिक एण्ड पोलिटिकल कन्डीशन्स इन ऐनशियन्ट इंडिया, मैसूर, १६११

शर्मा, आर०एस० : स्टेजेस इन एंशेट इंडिया इकानामी, दिल्ली १६५१

शास्त्री, नीलकंठ : एडवांस हिस्टरी ऑफ इंडिया, दिल्ली, एलाइड पब्लिशर्स, १६७०

श्रीवास्तव, बलराम : ट्रेड एण्ड कामर्स इन एशेंट इंडिया, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, १६६८

स्मिथ, विसेंट ए० : क्वाइन्स ऑफ एशेंट इंडिया, वाराणसी : इन्डोलॉजिकल बुक हाउस, १६७२

समद्दर, जे०एन० : लैक्चर्स ऑफ दि इकानामिक कंडिशन आफ एशेंट इडिंया, कलकत्ता : यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता

सालेतोर, आर०एन : अर्ली इंडियन इकानामिक हिस्ट्री, बम्बई : एन०एम० त्रिपाठी प्राइवेट लिमिटेड, १६७३

सिन्हा, बी०पी० : डायनेस्टी हिस्ट्री ऑफ मगध, दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन, १६७७

सोरांव, के०टी०एस० : अर्बन सैन्टर्स एण्ड अर्गनाइजेशन ऐस रिफीलैकटेड इन द पाली विनय एण्ड सुत्त पिटक्स– दिल्ली

सांकृत्यायन, स्व महापण्डित राहुल : पालि साहित्य का इतिहास, उत्तर प्रदेश शासन, हिन्दी भवन, माहत्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

श्रीवास्तव, डॉ० प्रिया : प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातु कर्म, रत्ना पब्लिकेशन्स वाराणसी

सालेतोर, आर० एन० : अर्ली इडियन इकानामिक हिस्टरी, बम्बई: एन० एम० त्रिपाठी प्राइवेट लिमिटेड, १६७३;

सिन्हा, बी० पी० : डायनेस्टी हिस्टरी ऑव मगध, दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन १९७७

सोराव, के० टी० एस० : अर्बन सैन्टर्स एण्ड अर्बनाइजेशन ऐस रिफीलैकटेड इन द पाली विनय एण्ड संयुक्त पिटक्स–दिल्ली

सांकृत्यायन, स्व महापण्डित राहुल : पालि साहित्य का इतिहास उत्तर प्रदेश शासन हिन्दी भवन महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

श्रीवास्तव, डा० प्रिया : प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित धातु एवं धातु कर्म, रत्ना पब्लिकेशन्स वाराणसी

सैलीतोर, आर० एन० : अर्ली इंडियन इकोनामिक हिस्ट्री, बाम्बे, १९७३

सामदार, जे० एन० : लैक्चर्स आन इकोनामिक कन्डीशन ऑफ ऐनशियन्ट इंडिया, कलकत्ता, १९२२

सामदार, जे० एन० : इन्ड्रस्टिर्ल एण्ड ट्रेडिंग आर्गनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इडिया, JBORS, VII (IV)

शास्त्री के० ए० एन० : कम्प्रीहैन्सीव हिस्ट्री ऑव इन्डिया, वाल्यूम II, कलकत्ता, १९५७

ठाकुर, विजय : अर्बनाइजेशन इन ऐनशियन्ट इन्डिया, न्यू दिल्ली, १९८१; रोल ऑफ गिल्डस इन ऐनशियन्ट इन्डयन अर्बन ऐडमिनसट्रेशन, जे०एन०एस०आई०, ४६

थापर, रोमिला : अशोक एण्ड द डिक्लाइन ऑफ दी मौर्यान् आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९८५ए १९९३

थपल्याल, के०के० : गिल्डस् इन ऐनशियंट इंडिया, न्यू दिल्ली, १९९६

टाउटेन, जे० : दि इकॉनामिक लाइफ ऑफ दि एंशेट वर्ल्ड, न्यूयार्क, १९३०

त्रिपाठी, रामनरेश : प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार, इलाहाबाद, बोहरा पब्लिसर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, १९८१

उपाध्याय, भारतसिंह : पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शकसंवत् २०१८

उपाध्याय, भरतसिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शकसंवत् २०१८

उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय मुद्राएं, पटना, प्रज्ञा प्रकाशन, १९७१

उपाध्याय, प्रो० वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेख (प्रथम भाग), प्रज्ञा प्रकाशन, पटना १९७०

वाग्ले, नरेन्द्र : सोशायटी इन द टाइम आफ द बुद्धा, बाम्बे, १९६६

वॉट, जी० : डिक्शनरी ऑफ एकोलामिक्स, प्रोडक्टस् ऑफ इंडिया, ६ वाल्यूम

वॉट, जी० : कामर्शियल प्रोडक्टस् ऑफ इन्डिया, लन्दन, १९०८

वियोगी, मोहनलाल महतो : जातककालीन भारतीय संस्कृति, पटना १९५८

व्यूलर : धर्मसूत्रज, एस० बी० ई० II, XIV
मानव धर्मशास्त्र, एस० बी० ई० XXV

याजदानी, जी० : (संपा०) दि अर्ली हिस्ट्री आफ दि डेकन, बम्बई : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६०

पुरातात्विक स्रोत

ऐक्सक्वेशन्स ऐट पिपरहवा एण्ड गनवरिया— के०एम० श्रीवास्तव, मैमोर नं० १४, आर्किलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू दिल्ली, १९६७—६८

डिस्कवरी ऑफ कपिलवस्तु बाई के०एम० श्रीवास्तव, बुकस् एण्ड बुकस्, १९८६, न्यू दिल्ली

एम०सी० जोशी, अर्ली हिस्टारिकल अर्बन ग्रोथ इन इन्डिया; सम आबर्जवेशनस्, पुरातत्व, न० ७, १९७४

ए फुहरर, एन्टीक्वैटीस् ऑफ दि बुद्धाज बर्थ—प्लेस इन द नेपालीज तराई, आर्कलाजीकल सर्वे ऑफ इण्डया, न्यू इम्पीरियल सीरिज, वाल्यूम XXVI (रिप्रीन्टैड, वाराणसी, १९७२)

ए०सी०एल० कार्यायल, इन कनिंघम, आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, रिर्पोटस, (रिप्रीन्टैड, वाराणसी १९७२) वाल्यूम XII, पी० ८७

देवलामित्रा, बुद्धिस्ट मान्यूमैन्टस (कलकत्ता, १९७२) बीबलोग्राफी ऐट द ऐन्ड

द मान्युमैन्टस ऑफ साँची— जे मार्शल

जे० मार्शल, तक्षशिला (कैम्ब्रिज १९५१) ३ वाल्यूमस्

ऐक्सिवेशनस् ऐट वैशाली— ए०एस० अल्तेकर एण्ड वी० मिश्रा, पब्लिशड् बाई गर्वमेन्ट ऑफ बिहार

बी०सी० लॉ— सरस्वती इन इण्डियन लिटरेचर, मेमोर न० ५०, ए०एस०आई० एण्ड ऐक्सकिवेशन रिपोर्ट बाई के०के० सिन्हा, पब्लिशड बाई बी०एच०यू०

बी०सी० लॉ— कौशाम्बी इन इण्डियन लिटरेचर—मेमोर, आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ६० एण्ड ऐक्सकेवशन रिपोर्टस इलाहाबाद यूर्निवसर्टी

शास्त्री, हीरानन्द ऐक्सकेवशनस् ऐट काशी, ऐनुवल रिपोर्ट, १९११—१२ (कलकत्ता १९१५) पी०पी० १३४—४०, १९१६—२० पी०पी० २८—२६

बी०सी० लॉ— राजगृह इन इण्डियन लिटरेचर मेमोर, आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया न० ५८

वोगल, जे०पी०एच०, ऐक्सकेवेशनस् ऐट काशी, ऐनुवल रिपोर्ट, आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया १९०५—०६ (कलकत्ता १९०६) पी०पी० ६१—८५, १९०६—०७ पी०पी० ४४—६७

बनर्जी, एन०आर० (१९६५) : द आयरन ऐज ऑफ इण्डिया, दिल्ली

बरुआ, बी० (१९३४) : गया एण्ड बोध गया, वाल्यूम दो, कलकत्ता

मार्शल, जे० (१९०५—०६) : राजगिरि एण्ड इट्स रिनेनस् आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया अनुवल रिपोर्ट— १९०५—०६

मार्शल, जे० एच : (1910-11) ऐक्सकेवेशन् ऐट सहेट—महेट, आर्कलाजिकल सर्वे ३